चेतना की प्रचण्ड क्षमता—एक दर्शन

•

लेखक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

•

प्रकाशक :

अखण्ड-ज्योति प्रकाशन

मथुरा

देव-मन्दिर के देवता और परमात्मा

"स्वर्गादि उच्च लोक, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, जल आदि की उत्पत्ति से सुखी सब परमात्मा ने लोकपालों की रचना का विचार किया। इस रचना का विचार आते ही उन्होंने सर्वप्रथम प्रकाश अणु पैदा किये। यह अणु अण्डाकार थे और उनमें पुरुष के लक्षण थे, फिर उन अंड में परमात्मा ने छेद किया जो मुख बना मुख से वाणी, वाणी से अग्नि उत्पन्न हुई। इसके बाद दो छेद किये जो नासिका कहलाये। उनसे प्राण की उत्पत्ति हुई, प्राणों से वायु और नेत्रों के छिद्र बने। उनमें सुनने की शक्ति उत्पन्न हुई, श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा दिशायें प्रकटीं, फिर त्वचा उत्पन्न हुई। त्वचा से रोम, रोम से औषधियाँ, फिर हृदय, हृदय से मन और मन से चन्द्रमा प्रकट हुआ। फिर नाभि बनी, नाभि से अपान देवता उस से मृत्यु देवता प्रकट हुये। फिर उपस्थ, उपस्थ से वीर्य, वीर्य से जल की उत्पत्ति हुई।"

"इस प्रकार उत्पन्न हुये देवतागण अभी तक अपने सूक्ष्म रूप में थे। परमात्मा ने उनमें भूख और प्यास की अनुभूति भी उत्पन्न कर दी थी किन्तु वे संसार-समुद्र में निराश्रित पड़े थे, उन्हें रहने के लिये कोई स्थान का अभाव खटक रहा था। इसके लिये उन्होंने परमात्मा से प्रार्थना की तब परमात्मा ने उन्हें गाय का शरीर

दिखाया। उस शरीर को देवताओं ने पसन्द नहीं किया। [illegible] उन्हें घोड़े का शरीर दिखाया पर भी उन्हें पसन्द नहीं हुआ। अन्त में शरीर विधाता ने देवताओं को दिखाने पर [illegible] तब उसने मनुष्य शरीर दिखाया। यह देवताओं को पसन्द आ गया। अग्नि उसमें वाणी बन कर मुख में, वायु प्राण बनकर नासिका में, सूर्य चक्षु बनकर नेत्र गोलकों में, दिशायें श्रोत्र बनकर कानों में, ओषधि लोम बन कर त्वचा में, चन्द्रमा मन बन कर हृदय में स्थित हुआ, मृत्यु अपान बनकर नाभि में, जल रेत [illegible] बनकर उपस्थ में स्थित हो गया।"

दिखाई देती है इस लिये अज्ञान-ग्रस्त लोग चिरकाल उन्हीं की तृप्ति में जुटे रह कर मनुष्य देह रूपी मन्दिर को भग्न और गन्दा किया करते हैं। देवताओं को स्थूल पूजा मिलनी चाहिये पर यदि देवताओं की संतुष्टि ही एक मात्र शरीर का उद्देश्य रह जायेगा तो उस परमात्मा की प्राप्ति के आनन्द का क्या होगा जो इन सभी शक्तियों को भी उत्पन्न करने वाला आनन्द और तृप्ति का मूल है। सारी परिपूर्णतायें तो एक मात्र ब्रह्म में ही हैं उसे प्राप्त किये बिना आत्मिक सुख कहाँ?

परमात्मा को कैसे प्राप्त किया जावे? यह संसार के सामने एक जटिल और गम्भीर प्रश्न है? ऐतरेय उपनिषद् इस प्रश्न की सम्बन्धी दिशा में एक महत्वपूर्ण शोध है इसमें तथ्यों को बड़े सरल ढंग से समझाया गया है, यह बताया गया है कि इन्द्रियों की वासनायें मनुष्य की आवश्यकतायें नहीं वरन् देव शक्तियों की आकांक्षायें होती हैं मनुष्य तो बुद्धि-ज्ञान और चेतना को कहते हैं। बुद्धि परमात्मा की प्रतिनिधि है अर्थात् मनुष्य देव शक्तियों से ऊपर की सत्ता है। उसे इन्द्रियों का स्वामी बन कर देव शक्तियों का लाभ उठाना चाहिये और अपनी बौद्धिक एवं आत्मिक क्षमताओं का विकास करके विराट् ब्रह्म को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। यही परम पुरुषार्थ है और यही है योग। जो अपनी इन्द्रियों का स्वामी बन गया उसे अपने लघु रूप को विराट् ब्रह्म में परिवर्तित करते देर न लगेगी।

अभी तक यह ज्ञान केवल शास्त्रों तक सीमित था। शास्त्रीय व्याख्याओं से विश्वास उठ जाने के कारण इस तरह के विवेचनों के प्रति अश्रद्धालु होना और इस तरह जीवन-विधान के मूल-ज्ञान से वंचित रह जाना स्वाभाविक ही था। इसे अपना दुर्भाग्य ही कहना चाहिये कि हमारे देशवासी स्वयं इस सात्त्विक विज्ञान को भूल गये जिसका प्रतिपादन आज शरीर-विज्ञान भी करता है।

शरीर विज्ञान मानता है कि मनुष्य का मस्तिष्क इन्द्रियों की

सामर्थ्य से बड़ा और उनका स्वामी है, [illegible] यौगिक शक्तियों को देना चाहिए। इस दृष्टि से मस्तिष्क [illegible] नसों और सात शून्य स्थानों (सात-छेद) की ओर [illegible] महत्त्व रखती है। यह नसें मस्तिष्क के निचले [illegible] निकलती हैं और शरीर के सभी तन्त्रिका अवयवों तक [illegible]

(१) आल्फैक्ट्री नस का सम्बन्ध मस्तिष्क [illegible] मस्तिष्क सूँघने की अनुभूति करता है। (२) [illegible] गोलकों तक चली जाती है और वहाँ मस्तिष्क को [illegible] का ज्ञान कराती है। (३) आकुलो मोटर [illegible] से है इससे पुतलियों को गति मिलती है। (४) [illegible] मांसपेशियों को जोड़ने वाली नस है (५) [illegible] जिससे जबड़े एवं जीभ की मांसपेशियों के [illegible] स्वाद आदि की अनुभूति में सहायक होती है। (६) [illegible] को भीतर की ओर मोड़े रहती है। (७) [illegible] पेशियों को। (८) [illegible] है। (९) [illegible] स्वर ध्वनि यन्त्र (फैरिंक्स) जीभ, [illegible] अवयव अंग से जोड़ती है। (१०) [illegible] को की जाती है। (११) [illegible] सम्बन्ध जोड़ती है और (१२) [illegible]

। त्रिकुटी मध्य के उस भाग से है जहाँ ज्योतिर्लिंग के दर्शन होते हैं पर शरीर रचना शास्त्री उसे केवल दोनों पुतलियों से सम्बन्धित मानते हैं। स्वाडलर एसेन्टी नाभिस्थित सूर्य चक्र (सोलर प्लैक्सस) से सम्बन्धित है और योग विद्या में इसका अपना विशिष्ट महत्व है पर उसे भी शरीर-रचना शास्त्री नहीं जानते यहाँ तक कि नाभि जैसे महत्वपूर्ण संस्थान का जिससे कि गर्भावस्था में सारे शरीर को पोषण मिलता है, वैज्ञानिक कुछ भी नहीं जानते हैं। तो भी यह कम महत्वपूर्ण नहीं कि उन्होंने इन जानकारियों के आधार पर इतना तो सिद्ध कर ही दिया कि मस्तिष्क ही सम्पूर्ण इन्द्रियों का अधिष्ठान है। यदि मस्तिष्क नहीं रहता तो इन सभी इन्द्रियों की चेतना अपना कारोबार समेट कर उसे नष्ट कर देने में ही जुट जाती और अपनी समस्त सूक्ष्म तन्मात्राओं को मस्तिष्क में ही केन्द्रित कर देती, यही मस्तिष्कीय चेतना इन्द्रिय सूक्ष्म तन्मात्रायें लेकर मृत्यु काल में शरीर से विदा होकर फिर दूसरी योनियों की तलाश में चली जाती और यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक मस्तिष्कीय ध्रुव प्रकृति के अज्ञान आवरण और इन्द्रियों की लिप्साओं को स्वच्छ नहीं कर लेता। यजुर्वेद में इसी तथ्य को दोहराते हुए ऋषि ने लिखा है—

यस्य प्रयाण मन्वन्य इद्ययुर्देवा देवस्य महिमान मोजसा।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना।

यजुर्वेद ११।६

अर्थात्—इससे सभी देवता (इन्द्रियाँ) जिस देवता (जीवात्मा) के आधीन गति करती हैं जब जीवात्मा शरीर त्याग देता है तो उसी के आधीन चली जाती हैं। जिस देवता (जीवात्मा) की यह ज्ञान-शक्तियाँ कर्मों के अनुरूप बन जाती हैं वह श्रेष्ठ योनियों को प्राप्त होकर मुक्ति का स्वामी बनता है अन्यथा निकृष्ट योनियों में चला जाता है। इस प्रकार जीवात्मा के कल्याण के लिये परम

ग्रे मैटर (मस्तिष्क का भीतरी भाग) खुरचकर सौंपा जावे तो ग्रे मैटर की शक्ति कहीं अधिक होगी ।

यह केवल सैद्धान्तिक कथा मात्र नहीं है इस पर प्रयोग हुये हैं और प्रयोगों से यह सिद्ध हो गया है कि मस्तिष्क के इस भूरे द्रव्य (ग्रे मैटर) में वह सारे गुण विद्यमान हैं जो परमात्मा में होने की कल्पना की जाती है । ईश्वर के बारे में मान्यता है कि वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, सर्वद्रष्टा, अजर-अमर सनातन आदि है । पूर्ण विकसित, मस्तिष्क में वह सारे लक्षण हो सकते हैं । वैज्ञानिक प्रयोगों से यह भी स्पष्ट हो गया है इन चमत्कारों पर मैकगिल यूनिवर्सिटी मान्ट्रियल से डा० विल्डर पेनफील्ड के निर्देशन में खोज चल रही है ।) उनकी खोजें आज नहीं तो कल पूर्णरूप से भारतीय दर्शन को प्रमाणित करेंगी ।

यह प्रयोग मस्तिष्क के चमत्कारी केन्द्रों की विद्युतशक्ति बढ़ाकर किये गये हैं । एक रोगी को इलेक्ट्रोड के द्वारा मस्तिष्क के दृश्य भाग को स्पर्श कराया गया तो उसने बताया कि मैं सारे आकाश को देख रहा हूँ बड़े-बड़े तारागण घूम रहे हैं कितने ही उल्कापात हो रहे हैं, आकाश की यह भयंकर हलचल देखते ही वह भयभीत हो उठा । शायद उसकी स्थिति गीता में भगवान् के विराट् रूप देखने वाले अर्जुन की-सी हो गई हो । इसके बाद उसके श्रवण केन्द्र की शक्ति बढ़ाई गई तो उसने अजीब ध्वनियाँ सुनीं और यह सिद्ध कर दिया कि हम जो ध्वनियाँ अपने आस-पास सुना करते हैं वहीं सारी सृष्टि के अन्तराल में ग्रह नक्षत्रों के परिभ्रमण आदि की आकाश गंगाओं के विस्फोट आदि की भी भयंकर ध्वनियाँ सुनाई दे रही हैं । इसके बाद एक और आश्चर्यजनक स्थान में इलेक्ट्रोड स्पर्श कराया गया तो रोगी एकाएक हँस पड़ा और बोला - अरे यह तो मेरी माँ का आँगन है, वह बिल्ली रखा है, मेरी माँ इधर ही आ रही है वह कोई कपड़ा लिये चल रही है । बचपन का यह दृश्य है यह

सारा शरीर ही आच्छादित कर रखा है। इसका सघन विस्तार एवं क्रिया कलाप सम्पूर्ण शरीर को प्रभावित करता है।

जननेन्द्रिय की गणना पृथक इन्द्रिय में न करके उसे स्पर्शेन्द्रिय के रूप में त्वचा परिधि में ही गिना गया है। कारण कि इसी की संवेदन शीलता जननेन्द्रिय में एक विशेष स्पर्श संवेदन उत्पन्न करती है। कोमलता का आनन्द त्वचा ही लेती और देती है। स्नेह स्वजनों का स्पर्श चुम्बन आलिंगन त्वचा के माध्यम से होता है। उसकी संवेदन शीलता ही स्पर्श में अन्तःकरण को गुदगुदा देती है। भाव विभोर स्थिति में बिछुड़े हुए प्रियपात्र को अथवा नवजात स्वजन को हर्षातिरेक में छाती से लगाये बिना चैन नहीं पड़ता। बालक और अभिभावकों को गोदी में लेना केवल शारीरिक कारणों से ही सुखद नहीं होता वरन् उस स्पर्श सुख में आन्तरिक आनन्द की चेतनात्मक अनुभूति भी जुड़ी होती है। त्वचा इन्द्रिय हमारे भाव संस्थान को कम प्रभावित नहीं करती। इसलिए उसे अवांछनीय स्पर्श से बचाया जाता है और वांछनीय स्पर्श के लिए प्रयत्न पूर्वक संजोए रखा जाता है।

भारतीय संस्कृति में छूत-छात के तत्व मौजूद हैं। आज तो वह जाति-पाँति के आधार पर उलट गया पर प्राचीन काल में वह सिद्धान्त वांछनीयता और अवांछनीयता की दृष्टि से प्रयुक्त होता था। दुष्ट, दुराचारियों को स्पर्श करने का तात्पर्य था उनकी दुष्ट प्रकृति के साथ जुड़ी हुई सम्वेदना के आक्रमण से अपने को बचाना। गुरुजनों के चरण-स्पर्श करने उनके पैर दबाने की प्रक्रिया मात्र सम्मान सूचक ही नहीं वरन् इसमें उनकी महानता को अपने हाथों के माध्यम से ग्रहण करना भी है। शिष्य, पुत्र आदि अपने गुरुजनों के अक्सर पैर छूते या पैर दबाते हैं। इसमें मात्र शिष्टता कारण नहीं वरन् जिस प्रकार गाय का दूध दुहा जाता है उस प्रकार उनकी शक्ति, प्रभाव और तेज अपने अन्दर भरना ही प्रमुख लक्ष्य है।

साधारणतया इतना ही समझा जाता है कि ऋतु [illegible] से रक्षा करने के लिये जिस तरह छाता लगाया जाता है उसी तरह वस्त्र भी जाड़ो ऋतु प्रभावों से लेकर विभिन्न [illegible] है, उनसे ऊपर सहन करती है। यह एक सुविधाजनक [illegible] है। जो आन्तरिक अवयवों को ढकने के अतिरिक्त शरीर की शोभा सुन्दरता भी बढ़ाता है। ईश्वर के दिये हुए इस [illegible] मनुष्य कृत कोई पोशाक हो ही नहीं सकती।

जहाँ तक सौन्दर्य का प्रश्न है—इसे [illegible] सौन्दर्य ही [illegible] चाहिए। वस्त्र कितने ही कीमती और आकर्षक [illegible] शोभा पाते हैं जब [illegible] आदि [illegible] उत्पन्न करें। [illegible]

बनाती है। कितने ही संत, तपस्वी भी नंगे रहते हैं। बहुत से तो मिट्टी या राख की एक परत और ऊपर से मल लेते हैं इस दुहरे आवरण से वे और भी आसानी से ऋतु प्रभाव सहन कर लेते हैं।

चेहरे को सदा खुला ही रखा जाता है। हाथ-पैरों में तो मोजे भी पहन लिये जाते हैं पर नाक, मुँह, आँख, गाल आदि पर तो कोई मोजे भी नहीं पहने जाते। यहाँ की त्वचा खुली ही रहने की अभ्यस्त रहने से शीत-ताप आदि की शिकायत नहीं करती—न वस्त्रों की मांग करती है न ऋतु प्रभाव से प्रभावित होती है, अभ्यस्त त्वचा शरीर का संरक्षण कर सकने में पूरी तरह समर्थ है। वस्त्रों ने उसका कुछ उपकार नहीं किया वरन् दुर्बल और पराश्रयी ही बनाया है।

शरीर पर चमड़ी का क्षेत्रफल लगभग २५० वर्ग फुट होता है। वजन ६ पौण्ड। सबसे पतली वह पलकों पर होती है ·५ मिली मीटर। पैर के तलवों में सबसे मोटी होती है ६·०० मिली मीटर। साधारणतया उसकी मुटाई ०·३ से लेकर ३०० मिली मीटर की होती है। उसमें बारीक-बारीक अगणित छेद होते हैं जो खुर्दबीन की सहायता से देखे जा सकते हैं। औसतन इन छेदों से दिन-रात में १० छटांक पसीना बाहर निकलता है। गर्मी पड़ने पर या अधिक परिश्रम करने पर जब शरीर का तापमान गरम हो उठता है तो उसे ठण्डा करने के लिए स्वेद ग्रन्थियाँ तेजी से पसीना बाहर निकालती हैं और बदन ठण्डा कर देती हैं। पर सर्दियों में शरीर को गरम रखने की जरूरत पड़ती है इसलिए वे छेद सिकुड़ जाते हैं। भीतर की गर्मी रुकी रहती है और ठण्ड से बचाव हो जाता है। इस तरह त्वचा की संरचना शरीर को "एयर कंडीशन्ड" बनाये रखती है।

त्वचा छिद्र पसीना ही नहीं निकालते वे एक प्रकार से श्वास भी लेते रहते हैं। नाक की तरह कुछ चीजें बाहर निकालते रहते हैं और बाहर की चीजें भीतर खींचते रहते हैं। इस तरह छोटे

छेद एक प्रकार से नाक के छोटे बड़े छेदों का भी काम करते हैं। यदि यह छेद सर्वथा बन्द हो जायँ तो आदमी घुटकर मर जायगा। पुराने जमाने में अपराधी को मौत की सजा देने का एक तरीका यह भी था कि उसके शरीर पर मोम पोत दिया जाय, इस [illegible] होने से वह उसे हवा नहीं लगता था और इनका काम बन्द हो जाने पर घुट-घुटकर मर जाता था। एकबार एक लड़के के शरीर पर सोना पोत कर कोई नुमाइश की गई और [illegible] का स्वांग बनाया गया। इनके छिद्र बन्द हो जाने से लड़का थोड़ी ही देर में बेचैन हो गया और [illegible] छटपटाते-छटपटाते मर गया। जो लोग स्नान की उपयोगिता नहीं [illegible] हैं। फिर पूरा का स्नान करते हैं। [illegible] पर [illegible] उनसे [illegible] हैं उन्हें जानना चाहिए कि यह बड़ी [illegible] स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत ही अनिवार्य है।

त्वचा में एक विशेष तैल रहता है जो "कॉन्टिक्स" कहलाता है। शरीर पर इसी चिकनाई की चमक रहने से सौन्दर्य बढ़ता है और तेजस्विता झलकती है। इसी प्रकार त्वचा की रंजक कोशिकाएँ-'मेलानिन' नामक रङ्ग उत्पन्न करती हैं। इन्हीं के कारण गोरा, काला, गेहुँआ, पीला आदि रङ्ग मनुष्य का होता है।

चोट लग जाने पर क्षत स्थान की पूर्ति करने के लिए समीपवर्ती पड़ोसी पदार्थ दौड़ पड़ते हैं और वह घाव जल्दी भर देते हैं। रोगनाशिनी के पटलों की तरह त्वचा की छै परतें हैं (१) स्ट्रेटम कॉर्नियम—सबसे ऊपर की (२) स्ट्रेटम ल्यूसीडम—पारदर्शी (३) स्ट्रेटम—ग्रेन्यू—लोसम मूछित (४) स्ट्रेटम स्पाइनोसम—अंकुरयुक्त कोशी परत (५) स्ट्रेटम बेसेल—क्षति पूरक (६) कोरियम या चर्म सहायक। हाथ पैरों के तलवे, हथेली तलवे आदि पर जहाँ—तहाँ जो छोटी गद्दी-सी पाई जाती है उसे पैपिली—कहते हैं।

त्वचा परतों में कितनी वस्तुएँ विद्यमान हैं। (१) केशग्रन्थि, (२) स्वेद ग्रन्थि, (३) तैल ग्रन्थि (४) बाह्य त्वचा, अन्तःत्वचा (५) स्नायु, (६) मज्जातंतु' (७) रक्त नलियाँ इनमें से मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त अधिक गहराई से जानने पर उनमें और भी बहुत कुछ मिलेगा।

यह त्वचा सम्बन्धी शारीरिक जानकारी हुई। चेतनात्मक परिचय यह है कि बाह्य वस्तुओं को स्पर्श करके मस्तिष्क तक उनकी जानकारी पहुँचाने का अति महत्वपूर्ण कार्य त्वचा का ही है। संसार से व्यक्ति का सम्बन्ध बनाने—वस्तुओं को शरीर के साथ जोड़ने मिलाने का कार्य इसी के द्वारा सम्पन्न होता है। अतएव इसे अन्य समस्त इन्द्रियों से अधिक व्यापक और सर्वत्र बताया गया है। त्वचा में ऐसी अद्भुत शक्तियाँ भरी पड़ी हैं कि यदि उन्हें विकसित कर लिया जाय तो यह अन्य समस्त इन्द्रियों का काम कर सकती है। त्वचा से देखा जा सकता है, सुना जा सकता है, सूँघा जा सकता

है, चखा जा सकता है। स्पर्श सुख तो उसका प्रधान कार्य है - मैथुन ही नहीं—काम स्पंदन के अन्य प्रकार भी लगभग उसी के द्वारा अनुभव होते हैं और हलचल मचाने वाली अन्तःस्थिति उत्पन्न करते हैं।

त्वचा अन्य इन्द्रियों का भी कार्य कर सकने में समर्थ है। मूलतया यह शक्ति उसमें पूरी तरह विद्यमान है। काम में न आने से ही वह प्रसुप्त पड़ी है। योग साधनाओं द्वारा यदि त्वचा की संवेदनशीलता बढ़ाली जाय तो अन्य इन्द्रियों की शक्ति बचाकर त्वचा से ही काम चलाया जा सकता है। वह बची हुई अन्य इन्द्रियों की शक्ति अन्य उपयोगी कार्यों में खर्च हो सकती है। जिनकी कोई इन्द्रिय नष्ट हो गई है वे अभ्यास करके त्वचा से ही उस प्रयोजन को पूरा कर सकते हैं। नेत्रों का काम त्वचा कर सकने में समर्थ है इस सम्बन्ध में रूस में लगातार कई उदाहरण सामने आये हैं और वहाँ इस सम्बन्ध में काफी खोज भी हो रही है।

त्वचा के पारदर्शी परत केवल आर-पार दिखाने वाले ही नहीं हैं। वे एक्सरे का काम करते हैं यदि उन्हें विकसित किया जा सके तो एक्सरे यन्त्र के स्थान पर अपनी त्वचा से संसार में भी अज्ञात और अदृश्य का एक बड़ा भाग हमारी जानकारी में आ सकता है।

कुछ समय पूर्व मास्को में एक टेलिविजन कार्यक्रम पर यह दिखाया गया था कि किस प्रकार बिना आँखों की सहायता के मात्र स्पर्श से देखने का काम लिया जाना सम्भव है। निजनी टागिल की २२ वर्षीया कुमारी रोजा कुलेशोवा ने अपने दाहिने हाथ की तीसरी चौथी उँगली में दृष्टि शक्ति की विद्यमानता का परिचय दिया। आँख में मजबूत पट्टी बँधवाकर वैज्ञानिकों की उपस्थिति में उसने इन दो उँगलियों के सहारे अखबार का एक पूरा लेख पढ़ कर सुनाया और फोटो चित्रों को पहचाना। इससे रूसी वैज्ञानिकों की

शरीर में संव्याप्त चेतना की बहुमुखी प्रयोजन पूरा कर सकने की क्षमता का ज्ञान हुआ और नृतत्व विज्ञान को एक नई शोध करने की दिशा मिली।

अभी इस अध्याय में एक कड़ी और जुड़ी है। कितने ही लोगों ने तलाश किया कि क्या उनमें या उनके कुटुम्बियों में भी कोई इन्द्रियातीत शक्ति है। इस खोज में इस वर्ष एक ९ वर्षीय लड़की और प्रकाश में आई है जिसने रोजाकुलेशोवा की अपेक्षा और भी अधिक लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया।

सम्वाददाता निकोलाई स्पिसेवर्न के अनुसार खार्कोव की श्रीमती ओल्गा बिनअशोवा ने अपनी ९ वर्षीय पुत्री में यह प्रतिभा और भी अधिक बढ़ी-चढ़ी पाई तो उसने सोवियत विज्ञान एकादमी के सम्मुख उसे पेश किया और कई तरह के अद्भुत परीक्षण कराये। बिछी हुई शतरंज पर से उसने काली और सफेद गोटें छाँटकर अलग कर दीं। इसके बाद रंग-बिरंगे कागजों की कतरनें उसने तरतीब वार छाँटीं परिचित लोगों के फोटो पहचाने। बच्ची कम पढ़ी थी तो उसे बच्चों वाली रङ्गीन किताबें दी गईं और उसने उन्हें हाथ से छूकर ठीक तरह पढ़ दिया।

इसके बाद और भी कठिन परीक्षा शुरू हुई। उँगलियों के अतिरिक्त क्या शरीर के किसी अन्य भाग में भी ऐसी शक्ति है। इसका परीक्षण किया गया तो यह बात भी सही निकली, उसने बाँह, कन्धा पीठ, पैर आदि से छूकर भी वैसा ही अनुभव प्रस्तुत किया जैसा हाथ से छूकर करती थी। क्या चीजों को बिना छुए भी इस तरह की जानकारी की जा सकती है? इस परीक्षण में पाँच सेन्टीमीटर दूर रखी चीजों तक को उसने उँगली के पोरुवों की सहायता से पढ़ लिया। ९ महीने बाद उसने दूसरी तैयारी में और भी अधिक दूर पर रखी हुई चीजों को देखने और कागजों को पढ़ने में सफलता प्राप्त की। इसी

प्रकार उसने पैर की उँगलियों से छूकर कितनी ही वस्तुओं का सही-सही परिचय बताया।

रूस के वैज्ञानिकों का ध्यान तब से इस दिशा में अधिक गया है और उन्होंने उस सम्बन्ध में लगातार शोध कार्य किया है।

मनोविज्ञान शाखा के वरिष्ठ शोधकर्त्ता प्रो० कोन्स्टान्टिन प्लातोनोव ने कहा है—मानवीय चेतना विद्युत की व्यापकता को देखते हुए इस प्रकार की अनुभूति अप्रत्याशित नहीं है। नेत्रों में जो शक्ति काम करती है वही अन्यत्र ज्ञान तन्तुओं में विद्यमान है उसे विकसित करने पर मस्तिष्क को वैसी ही जानकारी मिल सकती है जैसी आँखों से मिलती है।

प्रो० एलेक्जेन्दर स्मिर्नोव ने कहा है कि—यह कोई अलौकिक बात नहीं है। वरन् सामान्य विज्ञान सम्मत सिद्धान्तों का ही एक दिलचस्प प्रतिपादन है। एक अङ्ग की चेतना दूसरे अङ्गों में भी काम कर सकती है।

निझोरी तागिल पैडागोगीकल इन्स्टीट्यूट के रीडर गोल्दो-मोव्स्की ने अपने अनेक छात्रों में इस तरह की विशेषता को ढूँढ़ा तो कुछ छात्राएँ ऐसी मिल गईं जिनमें एक सीमा तक इस तरह की शक्ति मौजूद है उसे बढ़ाने पर सफलता की मात्रा अधिक बढ़ने की भी आशा की गई है। इस तरह की क्षमता अन्य अङ्गों की अपेक्षा दाहिने हाथ की उँगलियों में अधिक पाई गई है और लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में यह अतीन्द्रिय तत्व अधिक है। आयु बढ़ने के साथ यह चेतना ज्ञान तन्तुओं में आ जाती है उनके कारण बड़ी उम्र में शरीर उतना संवेदनशील नहीं रह जाता, फलस्वरूप ऐसे अनुभव और अंगों में दृष्टिगोचर नहीं होते।

त्वचा का महत्व यदि समझा जाय तो यह और महत्वपूर्ण माध्यम सिद्ध होगी। अन्य समस्त इन्द्रियों का भी वह कार्य कर सकने में समर्थ है ही साथ ही अंतश्चेतना को विकसित एवं [illegible] करने

ं उसका और भी ऊँचा उपयोग है। साधना विज्ञान में इसका साधना ो "स्पर्श स्पर्श" कहते हैं इसका क्षेत्र अति व्यापक, विस्तृत और प्रभा-ोत्पादक माना गया है।

हमारी रक्त सम्पदा कितनी मूल्यवान

जिसे हम रक्त के नाम से जानते हैं। मोटेतौर पर वह लाल रंग का पानी है जो नस नाड़ियों में ऐसे ही मन मौजी घुमक्कड़ की तरह घूमता फिरता रहता है। यदि बारीकी से देखा जाय तो किसी देश या नगर की जल व्यवस्था की तरह रक्तसंचार प्रक्रिया भी अनेकानेक गुत्थियों को सुलझाती हुई व्यवधानों का निराकरण करती हुई ही गतिशील हो रही है। उसकी गतिविधियाँ देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है।

सारे शरीर में रक्त की एक परिक्रमा प्रायः डेढ़ मिनट में पूरी हो जाती है। हृदय और फेफड़े के बीच की दूरी पार करने में उसे मात्र ६ सैकिण्ड लगते हैं, जब कि उसे मस्तिष्क तक रक्त पहुँचने में ८ सैकिण्ड लग जाते हैं। रक्त प्रवाह रुक जाने पर हृदय भी ५ मिनट जी लेता है, पर मस्तिष्क तीन मिनट में ही बुझ जाता है। हृदय फेल होने की मृत्युओं में प्रधान कारण धमनियों में रक्त की सप्लाई रुक जाना ही होता है। औसत दर्जे के मनुष्य शरीर में पांच से छै लीटर तक खून रहता है। इसमें से ४ लीटर तो निरन्तर गतिशील रहता है और एक लीटर आपत्ति कालीन आवश्यकता के लिए सुरक्षित रहता है। २४ घण्टे में हृदय को १३ हजार लीटर खून का आयात-निर्यात करना पड़ता है। १० वर्ष में इतना खून फेंका समेटा जाता है जिसे यदि एक जगह इकट्ठा कर लिया जाय तो उसे ८०० फुट घेरे की ५० मंजिली टंकी में ही भरा जा सकेगा। इतना श्रम यदि एक बार ही करना पड़े तो उसमें इतनी शक्ति लगानी पड़ेगी जितनी कि दस टन बोझ जमीन से ५० हजार फुट तक उठा ले जाने में लगानी पड़ेगी। शरीर में

जो तापमान रहता है, उसका कारण रक्त प्रवाह के कारण उत्पन्न होने वाली ऊष्मा ही है।

अपने चार वर्ण और चार आश्रमों की तरह रक्त के भी चार वर्ण हैं। भगवान मनु ने मनुष्य जीवन की क्रम व्यवस्था इन चार भागों में की थी। लेण्ड स्टीनर ने रक्त की चार श्रेणियों का रहस्योद्घाटन किया था। सब मनुष्यों का रक्त एक जैसा नहीं होता, उनके बीच कुछ रासायनिक भिन्नता रहती है। इसी को ध्यान में रखते हुए उसे (१) ए० (२) बी० (३) ए०बी० (४) ओ० इन चार नामों में वर्गीकरण किया है। किसी की नसों में किसी का रक्त चढ़ाने से पहले यह विधि वर्ग मिला लिया जाता है अन्यथा भिन्न रक्त चढ़ा देने से रोगी भयङ्कर विपत्ति में फस जायगा और मृत्यु सङ्कट सामने आ खड़ा होगा।

हमारा रक्त लाल रंग का एक गाढ़ा तरल पदार्थ है जो हवा लगने पर जम जाता है उसे दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। (१) तरल पदार्थ—प्लाज्मा (२) ठोस कण—सारतत्व। प्लाज्मा, रक्त में ५५ प्रतिशत होता है, इस भूरे, पीले रंग के पानी जैसी वस्तु में देखा जा सकता है। उसमें नमक, ग्लूकोज, प्रोटीन आदि घुले रहते हैं। कण ठोस पदार्थ उसमें घुल नहीं पाते और तैरते रहते हैं। इन ठोस कणों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं (१) एरिथ्रोसाइट्स खून के लाल कण (२) ल्यूकोसाइट्स खून के सफेद कण (३) प्लेटलेट—खून की पपड़ियां।

लाल कण शरीर के प्रत्येक अंग,—तन्तु और कोष को आहार एवं आक्सिजन पहुँचाते हैं, साथ ही निकम्मी कार्बनडाई आक्साइड गैस को ढोकर फेफड़ों तक ले जाते हैं ताकि वहाँ से सांस द्वारा उसे बाहर निकाला जा सके।

सफेद कण वस्तुतः कोषाणु हैं उनकी संख्या कम ही होती है, ६५० लाल कणों के पीछे एक। इन्हें शत्रु रोगाणुओं से लड़ने वाले

सैनिक कहा जा सकता है। शरीर के किसी भाग में यदि रोगकीट हमला करदें तो यह श्वेत कण उनसे लड़ने को तत्काल जा पहुँचते हैं। आवश्यकता के समय अपनी जाति वृद्धि कर लेने की इनमें अद्भुत क्षमता है।

रोगों के कीटाणु हवा, पानी, आहार, छूत या चोट आदि के माध्यम से शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। ये इतने भयङ्कर होते हैं कि देखते-देखते सारे शरीर पर कब्जा कर सकते हैं और किसी को भी रोगग्रस्त करके मौत के मुँह में धकेल सकते हैं। ईश्वर को लाख धन्यवाद कि इस रोग कीटाणुओं से भरे शत्रुओं के चक्रव्यूह में आत्म-रक्षा करने के लिए हमें श्वेत कणों की सुदृढ़ सेना दी है। यदि यह न मिली होती तो पग-पग पर मृत्यु सङ्कट सामने खड़ा रहता।

श्वेत कोषाणु रोग कीटाणुओं से अधिक प्रबल होते हैं और वे शत्रुओं को मार काट कर धराशायी करने में प्रायः सफल ही रहते हैं। इस युद्ध में उनमें से भी बहुतों को शहीद होना पड़ता है। मृत श्वेत कणों के ढेर को सफेद पीव के रूप में देखा जा सकता है, यह चमड़ी फोड़कर बाहर निकलता है। अपनी विशेषताओं के आधार पर इन श्वेतकणों की भी कई जातियाँ होती हैं यथा—न्यूट्रोफिल, ईओसिनो-फिल, बेसोफिल, लिम्फोसाइट, मोनोसाइट आदि। इनका आवश्यकता से अधिक बढ़ जाना या घट जाना भी चिन्ता का विषय है इनकी असाधारण वृद्धि 'ल्यूकोसाइटोसिस' और कमी 'ल्यूकोपेनिया' कह-लाती है।

साधारणतया प्रतिघन मिली मीटर रक्त में ५ से १० हजार श्वेत कण होते हैं। पर कभी-कभी यह संख्या बढ़कर ढाई लाख तक जा पहुँचती है तब यह वृद्धि आत्मघाती सिद्ध होती है। कैंसर की सम्भावना बढ़ जाती है।

रक्त रस—प्लाज्मा में ९० प्रतिशत जल और १० प्रतिशत में चर्बी, हारमोन, नाइट्रोजन, आक्सीजन, कार्बनडाई आक्साइड आदि

पदार्थ मिले होते हैं। इस हल्के पीले रंग के तरल पदार्थ में लाल और श्वेत रक्त कणिकाएँ तथा बिम्बाणु तैरा करते हैं। लाल रक्त कण इतने छोटे होते हैं कि वे ३००० की संख्या में सीधी एक लाइन में रख दिये जाँय तो एक इंच से भी कम लम्बाई होगी। युवा मनुष्य के शरीर में २५,०००,०००,०००,००० लाल रक्त कण होते हैं। वे चार महीने जीवित रह कर मर जाते हैं और उनका स्थान लेने के लिए नये पैदा हो जाते हैं।

रक्त की चाल धमनियों में प्रतिघण्टा ६५ कि० मी० की है। रक्त कणिकाएँ लौह और आक्सिजन से मिलकर बने पदार्थ हीमो-ग्लोबिन अपने साथ प्रोटीन, प्राण वायु आदि अपने पोषक पदार्थ अपने ऊपर लाद कर चलता है और उस खुराक को शरीर के कण-कण तक पहुँचाता है। उसे दुहरा काम करना पड़ता है। इधर से उपयोगी पदार्थों का पहुँचाना, उधर से कार्बन डाइआक्साइड तथा दूसरी हानिकारक गन्दगियों को समेट कर फेफड़े द्वारा बाहर निकाल दिये जाने के लिए उन तक पहुँचाना, यह दुहरी ढुलाई उसे करनी पड़ती है। अपने काम को रक्त द्रुत गति से करता है। पोषण पहुँचाने तथा गन्दगी साफ करने के रसोई महाराज और सफाई जमादार की दुहरी ड्यूटी देने में उसे कोई आपत्ति नहीं होती।

लाल रक्त कणिकाएँ प्रायः ४ महीने में लगभग १५०० मील का सारे शरीर के लगा देने के बाद बूढ़ी होकर मर जाती हैं। तिल्ली के जिम्मे उनका अन्त्येष्टि संस्कार करना और मांस को तोड़-फोड़ कर मल द्वारों से बाहर निकालने की व्यवस्था उसी को जुटानी पड़ती है। हमारा छोटा सा शरीर वस्तुतः बहुत बड़ा है। इस पूरी पृथ्वी के बराबर जीवधारी इसमें रहते हैं। इतना ही उनके व्यवस्था कर्म-चारियों की संख्या भी लगभग उसी अनुपात में रहती है। इन २५००० करोड़ लाल रक्त कणों को यदि एक सीधी पंक्ति में [illegible]

पी इतना छोटा आकार रहते हुए भी ये इतनी बड़ी तादाद में होंगे जो समस्त पृथ्वी की चार बार परिक्रमा कर सकें।

ऊपर कहा जा चुका है कि रक्त में तीन जाति के कण रहते हैं लाल रक्त कणों की चर्चा हो चुकी है। अब कणिकाओं में १ करोड़ २० लाख श्वेत रक्ताणु और ५० लाख लाल रक्त बिम्बाणु और रहते हैं। एक बूंद खून में प्रायः ११ हजार श्वेत कण होते हैं। इन का मुख्य कार्य शरीर में बाहर से प्रवेश करने वाले अथवा भीतर से ही पैदा होने वाले रोग कीटाणुओं से लड़कर उन्हें परास्त करना और उनके शरीरों को देह से बाहर निकाल देना होता है। बीमारियाँ तभी प्रकट होती हैं जब ये श्वेत कण रोगाणुओं से हारते हैं। अन्यथा हमें पता भी नहीं चलता है और रोग निवारण का अधिकांश कार्य इन श्वेत कणों द्वारा भीतर ही भीतर निपटा दिया जाता है। बाहरी रक्त शरीर में प्रवेश कराया जाय या किसी दूसरे व्यक्ति का कोई अङ्ग किसी की देह में आरोपित कराया जाय तो यह श्वेत कणिकाएँ बाहरी पदार्थ के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर देती हैं और भिड़ने में डटे पड़ जाते हैं। यही कारण है कि डाक्टर लोग किसी रोगी को वही रक्त चढ़ाते हैं जो उसके अपने रक्त का सजातीय हो। अंगों का आरोपण करते समय इन श्वेत कणों को संकुचित करने की औषधियाँ देकर चुप कर दिया जाता है।

तीसरे किस्म के रक्त बिम्बाणु कभी चोट आदि लगने पर बाहर बहते हुए रक्त को जमाने की भूमिका सम्पादित करते हैं। यह न हों तो जरा सा आघात लगने पर रक्त बाहर बहता ही रहे और उसके न रुकने पर मृत्यु हो जाय। एक बूंद खून में इनकी संख्या ३ लाख के करीब होती है और प्रायः १० दिन ही जीवित रहते हैं।

यदि रक्त में लाल कण कम पड़ जाय या हिमोग्लोबिन की मात्रा घट जाय तो 'एनीमिया' रोग हो जाता है, शरीर अशक्त हो सकता है और फिर [illegible] है।

रक्त के अभाव में हृदय तो पाँच मिनट भी अपना काम चला लेता है, पर मस्तिष्क तीन मिनट में ही निर्जीव हो जाता है।

बाँई पसलियों में ९वीं, १०वीं और ११वीं के नीचे आमाशय के पीछे तिल्ली का स्थान है यह लाल बैगनी रङ्ग की है। इसमें रक्त एकत्रित रहता है। उसकी १२ सेन्टीमीटर लम्बाई तथा ७ सेन्टीमीटर चौड़ाई होती है। वजन १५० से २०० ग्राम तक। इसमें रक्त को एकत्रित करने और निकालने की विशिष्ट क्षमता है।

पुराने जर्जर लाल रक्त कण अक्सर इसी में समाधिस्थ होते रहते हैं। गर्भावस्था में इसे रक्त बनाने के एक विशेष कारखाने का काम करना पड़ता है। किसी दुर्घटना के समय रक्त अधिक निकल जाय अथवा मज्जा में कोई दोष उत्पन्न हो जाय तो तिल्ली को उस आपत्ति काल में विशेष कार्य करना पड़ता है और उस क्षति की पूर्ति वहीं से हो जाती है।

बाहरी रोग कीटाणुओं के आक्रमण से शरीर की रक्षा करना तिल्ली का मुख्य कार्य है। तपेदिक, टाइफाइड, सिफलिस, कालाजार, मलेरिया आदि रोगों के विषाणुओं से लड़ने वाली फौज अधिकतर तिल्ली में ही तैयार होती है तब उसका वजन भी बढ़ जाता है। रक्त कैंसर —ल्यूकीमिया— में तो तिल्ली २० गुनी तक बढ़ जाती है और एक प्रकार से सारे पेट पर ही कब्जा कर लेती है।

रक्त संचार की दुनिया बहुत महत्वपूर्ण और गुत्थियों भरी है। उसे न शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है और न ही उसका चित्रण किया जा सकता है फिर भी वह कम आश्चर्यजनक और कम विलक्षण नहीं है। रक्त संचार की इस गुत्थियों भरी और महत्वपूर्ण दुनिया को यदि ठीक तरह से समझा जा सके और उसके अनुरूप रीति-नीति अपनाई जा सके तो परिपुष्ट और सुविकसित शरीर प्राप्त किया जा सकता है।

रक्त सम्पदा, त्वचा और मस्तिष्क की तरह शरीर संस्थान का

एक-एक घटक अद्भुत तथा विलक्षण है। साढ़े पाँच-छः फीट की इस मानवी काया में परमात्मा ने इसमें अधिक आश्चर्य भर दिये हैं कि इसे देवमन्दिर कहने और मानने में कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए। इस शरीर में सब देवताओं का आवास है। जीवित और जागृत देवताओं का सान्निध्य प्राप्त रहने पर भी कोई व्यक्ति इन देवताओं का लाभ न उठा पाये तो इससे बड़ी दुर्भाग्यता और क्या होगी।



प्रचण्ड पुरुषार्थ का प्रतिफल मनुष्य जन्म

मनुष्य परमात्मा का पुत्र राजकुमार कहा जाता है। उसमें वे सभी विशेषतायें हैं, जिनके आधार पर उसे इस सृष्टि का सर्व श्रेष्ठ प्राणी कहा जा सके। इसी तथ्य का एक पहलू यह भी है कि मनुष्य और छोटे-छोटे एक कोशीय जीव अमीबा या हाइड्रा में कोई अन्तर नहीं है। प्रकाश रूप आत्मा की लघुतम सत्ता में भी विराट् विश्व संव्याप्त है। ५ फीट ६ इन्च लम्बे १२० पौण्ड भार के शरीर में जो कुछ है आश्चर्य नहीं, बीज और संस्कार रूप में वह सब एक वीर्य कोष में विद्यमान रहता है। शरीर शास्त्रियों का मत है कि कोष स्थित गुण सूत्र (क्रोमोसोम) और संस्कार सूत्र (जीन्स) में वह सबके सब शारीरिक और मानसिक लक्षण और विशेषतायें विद्यमान रहती हैं, जो आगे चलकर मनुष्य शरीर में परिलक्षित होने वाली होती हैं। बच्चे की ६ उंगलियाँ होंगी या पाँच पूरी हुई, और नीली होंगी या पीली यह सारे लक्षण प्रजनन कोषों में विद्यमान रहते हैं।

स्त्री के प्रजनन कोष में भी विशेष प्रकार के गुणसूत्र बीज (ओवम) पाये जाते हैं। प्रत्येक पन्द्रहवें दिन दायें या बायें ओर स्त्री

के काम-अवयव (सेक्स-आर्गन) जिसे 'ओवरी' कहते हैं, में एक जननें-द्रिय कोष प्रकट होता है। वहां से निकलकर 'फिलोपियन ट्यूब' जो एक पतली सी नलिका का अवयव होता है, उसमें चला जाता है वहां से चलकर वह गर्भाशय की भीतरी दीवार से चिपक जाता है, जब तक कामेच्छा नहीं होती, मासिक धर्म के साथ ओवम-कोष घुलकर बाहर निकल जाता है, किन्तु यदि काम की इच्छा हो और स्त्री को पुरुष का संयोग मिले तो यह सम्भव है कि पुरुष का एक वीर्य-कोष (स्पर्म) गर्भाशय में जाकर ओवम से मिल जाये। ओवम और स्पर्म का मिलना ही गर्भाधान कहलाता है।

पुरुष शरीर का वीर्य-कोष (स्पर्म) मछली के बच्चे जैसी आकृति का होता है, किन्तु उसे नंगी आंखों से नहीं देखा जा सकता। परमाणु का वैज्ञानिक स्थान ०.००००००१ मिलीमीटर होता है, जबकि उसके नाभिक का स्थान ०.०००००००००००१ मिलीमीटर होता है। इसका ही अध्ययन करने के लिये शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी यन्त्रों (माइक्रोस्कोप) की आवश्यकता होती है तो इनसे भी न्यूनतम आकार के मानव प्रजनन कोषों को तो बिना इलेक्ट्रान माइक्रो-स्कोप को देख पाना भी सम्भव नहीं। न्यूनतम होकर भी वीर्य-कोष का सुनिश्चित आकार होता है। सबसे ऊपर किरीट, फिर एक अण्डाकार पिण्ड और उसमें भी पूँछ। यह है, मनुष्य शरीर का आधार। कितना न्यूनतम रूप पर कितनी शक्तिशाली सत्ता। एक सूखे परमाणु में २.७ लाख किलो कैलोरी ऊर्जा हो सकती है, तब इस जीवित परमाणु की शक्ति का तो कहना ही क्या। यदि मनुष्य इस क्षमता का चिन्तन कर सका होता तो वह शक्ति की एक अनन्त शुद्ध और निर्मल अवस्था में होता। आत्मीयता का दर्शन और अनुभव भी स्पर्श इसी के लिये सहायक सिद्ध होता है। अहंकार के वशवर्ती मनुष्य इतने पर, ज्ञान-प्रदीप वालों ने भी ऐसे कहते नहीं बन पाया। यदि वह अपनी इस सूक्ष्मता का चिन्तन कर सका होता,

तब उसे सृष्टि के छोटे से छोटे जीव और जर्रे-जर्रे में अपनी ही प्रतिच्छाया दिखाई देती, तब न किसी के साथ द्वेष होता न दुर्भाव। शक्ति, क्रियाशीलता, संतोष और आनन्द की विभूतियों से आच्छादित हो गया होता।

यह निश्चित हो गया है कि जीवन प्रणाली नाभिक में ही है और वह शक्ति रूप में है। उसका कोई आकार नहीं है एक अमीबा का नाभिक साइटोप्लाज्मा (नाभिक के अतिरिक्त कोष में जलवायु, गैस खनिज आदि जो भी है, सब साइटोप्लाज्मा कहलाता है) का कुछ अंश लेकर दो अमीबाओं में बदल जाता है, दोनों की आकृति स्वभाव भिन्न-भिन्न हो जाते हैं, लगता है वे दोनों अलग-अलग विचार प्रणाली के रूप में जन्मे हों। एक ही विचार प्रणाली या केन्द्रीभूत सत्ता का अनेक रूपों विभक्त होना ऐसा ही है। वस्तुतः चेतना सारे विश्व में एक ही है। उस विश्व-व्यापी चेतना को जब हम एक महत् इकाई के रूप में देखते हैं तो वही सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी ईश्वर के रूप में दिखाई देने लगता है। व्यक्तित्व के रूप में वही आत्मा मनुष्य और कीड़े-मकोड़ों के जीवन में वही जीव कहलाता है। दोनों अवस्थायें विराट् से सूक्ष्म और सूक्ष्म से विराट्। इसी विद्या का अवगाहन कर हम भारतीय भी योगी, द्रष्टा, ऋषि और मनीषि हो गये थे। ज्ञान के पुञ्ज थे, शक्ति के पुञ्ज थे हम, और उसका एक मात्र आधार यह तत्त्व-दर्शन ही था जिसने हमें ससीम से असीम बना दिया था।

जिस प्रकार एक अमीबा उपरोक्त विधि द्वारा अनेक अमीबाओं में बदल जाता है, उसी प्रकार स्त्री के गर्भाशय में पहुँचा हुआ, आत्म-चेतना युक्त या वीर्य-कोष अपना विस्तार प्रारम्भ करता है। एक वीर्य-कोष टूट कर दो हो जाते हैं। इस क्रिया के पीछे भी अन्तः-प्रेरणा काम करती है। फिर दो कोष विभक्त होकर चार बन जाते हैं। चार-आठ, आठ-सोलह, सोलह-बत्तीस। इस क्रम में यह कोष (सेल्स) ही बढ़ते और पलते रहते हैं। प्रारम्भ में इनकी स्थिति

खरबूज के फल (सोमाइट्स) की भी होती है। फिर एक प्लेट और प्लेट से ट्यूब की शकल बनती है, यह ट्यूब आकृति ही तीन स्थानों से मुड़कर मस्तिष्क के तीन भाग (१) अग्रभाग (फोर-ब्रेन), (२) मध्य मस्तिष्क (मिडब्रेन), (३) पिछला मस्तिष्क (हिण्ड-ब्रेन) बन जाते हैं।

कोषों का बनना अभी भी जारी रहता है, मुख्य कोष माँ के शरीर से पोषण ले लेकर प्रत्येक कोष के लिये रासायनिक प्रकृति (साइटोप्लाज्म) भाग जुटाता रहता है, जब अनेक कोष एकत्र हो जाते हैं तो फिर सुषुम्ना शीर्षक (स्पाइनल कार्ड) बनना प्रारम्भ होता है और इस तरह नीचे का शरीर बनता हुआ चला जाता है। यह कोष प्रत्येक स्थान की परिस्थितियों के अनुरूप अपने आप मुड़ते, सीधे होते, कड़े और कोमल होते चले जाते हैं और इस प्रकार नौ महीने की अवधि में एक विकसित बच्चा बन जाता है।

आठ, दस पौण्ड वजन का बालक सौ पौण्ड के मनुष्य में बदल जाता है। कुछ ईश्वर की लीला ऐसी ही विचित्र है अन्यथा जो चेतनता इस मनुष्य शरीर में है, वही उस एक सूक्ष्म कोष (स्पर्म) में भी और वह अपने आप में एक पूर्ण संसार था। मनुष्याकृति में एक विस्तृत और वैज्ञानिक क्षमताओं से परिपूर्ण शरीर देने का उद्देश्य तो यही था कि मनुष्य स्थूल और सूक्ष्म-ज्ञान और अज्ञान, यथार्थ और अयथार्थ के तथ्य को अच्छी तरह समझेगा, किन्तु दुर्भाग्य मनुष्य का है कि वह शरीर के साथ अपनी आत्मिक चेतना को भी स्थूल बनाता चला जाता है। इस तरह उसकी शक्तियाँ भी अपवित्रता के अन्धकार में छुपती चली जाती है और जीवन मुक्ति, शाश्वत सुख प्राप्ति जैसे लक्ष्य से वह वंचित होता हुआ चला जाता है।

चेतना मनुष्य शरीर के रूप में विकसित होकर परमात्मा से भी बड़ी दिखाई देने लगी, यह उसका सामर्थ्य रूप है और परमात्मा ने यह किसी विशेष हेतु से किया है। हम सब आनन्द की खोज में हैं,

उस आनन्द की परिभाषा कर पाना दूसरे जीवों के लिये कठिन है, क्योंकि उनमें बुद्धि-विवेक की ऐसी क्षमता नहीं, जैसी मनुष्य में। मनुष्य चाहे तो इस शरीर की विज्ञान मय शक्तियों का प्रयोग करके अपने महत्तम रूप और सौभाग्य, को विश्वात्मा, विराट् शरीर में विकसित कर सकता है। यही स्थिति जिसमें मनुष्य को न तो कोई अभाव हो, न अज्ञान, अशक्ति हो, न अक्षमता, सबसे अधिक आनन्द-उल्लास और सामर्थ्य से परिपूर्ण हो सकती है।

मनुष्य की क्षमता सामर्थ्य

मनुष्य गया-गुजरा उस स्थिति में—जब अपनी सामर्थ्य को पहचानने और उसका उपयोग करने में उपेक्षा बरते। महान् और असाधारण उस स्थिति में— जब वह अपनी गरिमा को समझे और असीम क्षमता पर विश्वास करे। साधारणतया यह आत्म-विश्वास की कमी ही वह कठिनाई है जिसके कारण हीन स्थिति में रहना पड़ता है।

मनुष्य की क्षमता का एक छोटा उदाहरण उसकी आरम्भिक स्थिति 'भ्रूणावस्था' की गतिविधियों का पर्यवेक्षण करते हुए मालूम भी किया जा सकता है। अपनी सत्ता के प्रत्यारम्भ अवसर पर साधन रहित स्थिति में यदि इतना अधिक पुरुषार्थ किया जा सकता है, तो साधन सम्पन्न और विकसित स्थिति में अपेक्षाकृत और भी अधिक पराक्रम कर सकना सम्भव होना चाहिए। किन्तु देखा यह जाता है कि [illegible] मनोबल का उत्कर्ष पीछे जब जब शिथिलता की दिशा में बढ़ने लगता है और क्रमशः ठंडा होता चला जाता है। ऐसा दुर्भाग्य नहीं होना चाहिए। अन्यथा कोई कारण नहीं कि आरम्भ में जिस मनुष्य की सक्रियता असाधारण रही थी, उसमें शिथिलता आने लगे। यह नहीं सोचा जाना चाहिए कि आरम्भ में विशेष क्षमता होती है और वह पीछे [illegible] पड़ जाती है। बीज में अंकुर निकलते समय, अंकुर की

पौधा बनते समय जो प्रगति क्रम दृष्टिगोचर होता है वह पीछे समाप्त या शिथिल कहाँ होता है? इस विकास प्रक्रिया में क्रमशः अभिवृद्धि ही होती चलती है; फिर कोई कारण नहीं कि प्रथम चरण में मनुष्य द्वारा किया जाने वाला पुरुषार्थ आगे चलकर अधिकाधिक तीव्र न होता चले। यदि इसी क्रमिक विकास की प्रक्रिया को अपनाये रहा जाय, इसमें शिथिलता न आने दी जाय तो मनुष्य देव या दैत्य स्तर के बड़े-बड़े काम करता रह सकता है।

पिता के शरीर से निकला हुआ शुक्राणु इतना छोटा होता है कि आलपिन की नोंक पर उसके हजारों भाई बैठ सकते हैं। उसे बिना शक्तिशाली सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र के खुली आँखों से तो देखा तक नहीं जा सकता। रतिक्रिया में जो मंथन क्रिया होती है। उससे यौन संस्थान में तीव्र विद्युत स्पन्दन उठने आरम्भ हो जाते हैं। उन्हीं की उत्तेजना से यह शान्त पड़ा जीव उत्तेजित हो उठता है और अपनी स्वतन्त्र सत्ता का निर्माण करने के लिए सहयोगी की तलाश में द्रुत गति से परिभ्रमण करता है। उस समय उसके हाथ, पैर, आँख आदि कुछ नहीं होते, तो भी अपनी आन्तरिक आकांक्षा से प्रेरित होकर अभीष्ट साथी को खोजने के लिए इसी तेजी से दौड़ता है कि हिरन, चीते की दौड़ से भी उसका अनुपात बढ़ा-चढ़ा रहता है।

शुक्राणु को डिम्बाणु तक पहुँचने में—अपने आकार और स्थान की दूरी के अनुपात से उतनी लम्बी यात्रा करनी पड़ती है जितनी कि उसे मनुष्य के बराबर आकार का होने पर पृथ्वी सूर्य की दूरी नापनी पड़ती। इस यात्रा पर स्खलन के समय साथी शुक्राणु अभीष्ट मनोरथ की पूर्ति के लिए निकलते हैं। इसे वर्षों की घुड़दौड़ के समतुल्य प्रतिस्पर्धा माना जा सकता है। प्रकृति बहादुर को सफलता देने की नीति अपनाती है। जो इस लम्बी और कष्टसाध्य यात्रा में अन्त तक प्रखर पुरुषार्थ नहीं कर पाते, बीच में ही थक कर बैठ जाते हैं, वे दम तोड़ देते हैं। जो अणु आक्रमण का साहस करता है वही

सफल होता है और भ्रूण बनने का—प्रगति पथ पर अग्रसर होने का ध्येय प्राप्त करता है।

शुक्र और डिम्ब का मिल कर बना हुआ 'कलल' बिजली की नेगेटिव और पाजेटिव दो-दो धाराओं के सम्मिलन से उत्पन्न शक्ति प्रवाह की तरह सक्रिय हो उठता है। गंगा यमुना का यह मिलन तीर्थराज संगम बनता है। सहयोग और सहकारिता का—मैत्री और सघन आत्मीयता का—जीवन के पहले ही दिन जो पाठ पढ़ा जाता है; उसका सत्परिणाम तत्काल देखने को मिलता है। यह सहकारिता यदि आगे भी जारी रखी गई होती, उसका महत्व भुला न दिया गया होता तो मनुष्य प्रगति करते-करते न जाने कहाँ से कहाँ जा पहुँचा होता।

भ्रूण कलल आरम्भ में बाल की नोक की बराबर होता है, किन्तु वह एक महीने के भीतर ही इतनी प्रगति करता है कि आकार में ५० गुना और वजन में ८००० गुना बढ़ जाता है। जो पहले दिन चिपचिपे जल बिन्दु के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, वही एक महीने में चौथाई इंच का बुलबुला बन जाता है। उसे परीक्षण, निरीक्षण की मेज पर रखा जाय तो स्थिति को देख कर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ेगा। उसके सिर और धड़ को देखा जा सकता है। पैर पूँछ की तरह होते हैं। हाथ तो स्पष्ट नहीं होते, पर हृदय धड़कता हुआ और नसों में रक्त चक्कर लगाता हुआ देखा जा सकता है। जीव की सृजनात्मक शक्ति का यह अद्भुत परिचय है। निर्माण का संकल्प जब कार्य रूप में परिणत होने के लिए आतुर हो उठे तो सहयोग, साधन और परिस्थितियाँ किस प्रकार अनुकूल होती चली जाती हैं, इसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। एक महीने मात्र—स्वल्प समय में किया गया कार्य—निर्माण का कार्य कितनी प्रगति कर लेता है, इसे देखते हुए जीव की अद्भुत सृजनात्मक शक्ति पर सन्देह करने का कोई कारण शेष नहीं रहता।

माता के शरीर में असीम मात्रा में पोषक पदार्थ भरे रहते हैं। उसे इच्छानुसार मात्रा में प्राप्त करने से भ्रूण पर कोई रोकथाम नहीं होती, पर वह सृष्टि विकास के सिद्धान्त को समझता है कि निर्वाह मात्र के लिए न्यूनतम लिया जाय, अन्यथा अनावश्यक संग्रह उसके लिए अन्ततः भार बनेगा और विपत्ति उत्पन्न करेगा। 'तेन-त्यक्तेन भुंजीथा' का पाठ प्रत्येक प्रगतिशील को पढ़ना पड़ा है। भ्रूण भी उस सनातन सिद्धान्त से अपरिचित नहीं होता। उसे अपने शरीर के चारों ओर एक परत चढ़ानी पड़ती है। जो गर्भाशय में उपलब्ध सामग्री में से छना हुआ. उपयुक्त पोषक पदार्थ ही भ्रूण तक जाने देती है। इसे संयम और मर्यादा का आवरण कह सकते हैं। शरीर-शास्त्र की दृष्टि से इस झिल्ली को 'ट्रोफोब्लास्ट' कहते हैं। सम्पत्ति के समुद्र में से मात्र उपयुक्त निर्वाह स्वीकार करने की व्यवस्था यह झिल्ली ही बनाती है। आक्सिजन और रसायन मिश्रित भ्रूण का उपयोगी आहार उसके शरीर में इसी झिल्ली द्वारा छन कर भीतर पहुँचता है। बात इतने से ही समाप्त नहीं होती। भ्रूण के शरीर से मल भी बनता है। उसे बाहर निकालना आवश्यक है। यह झिल्ली ही उस मल को बाहर लाती है और माता के रक्त में धकेल देती है। उसकी सफाई माता के रक्त को अपनी निज की सफाई के साथ-साथ ही करनी पड़ती है। उपलब्धि की तरह परित्याग का सिद्धान्त अपनाया जाना कितना आवश्यक है। इसे हृदयङ्गम करने पर ही भ्रूण कलल की सुरक्षा और अभिवृद्धि सम्भव होती है। हम तथा-कथित 'बुद्धिमान' लोग दोनों हाथों से अनावश्यक संग्रह में जुटे हैं और स्वेच्छा परित्याग के लिए तृष्णा वश साहस ही नहीं जुटाते। फलतः इस भार संग्रह की विषाक्तता जीवन की नाव को बीच मझधार में डुबो देने का कारण बनती है।

अनुदानों के लिए लालायित रहने वाले लोग सोचते हैं कि दूसरों के अनुग्रह से मिली सामग्री से ही काम चल सकता है। पर

यह कुकल्पना सर्वथा निरर्थक ही सिद्ध होती है। लोग सामान्यतः यही मानते हैं कि माता का रक्त ही भ्रूण की नसों में घूमता है, किन्तु वास्तविकता वैसी है नहीं। बच्चे का अपना स्वतन्त्र रक्त होता है। यह बात अलग है कि उसके निर्माण की साधन सामग्री माता के शरीर से उपलब्ध होती है।

दूसरे महीने में भ्रूण के ऊपर एक नया कवच—ओवर जाकिट के रूप में धारण कर लेता है। वह जानता है कि हर मर्द को युद्ध संग्राम में उतरना पड़ता है। जीवन एक युद्ध संघर्ष है। जो इस रण क्षेत्र में उतरने से डरता है—सुविधाओं की वर्षा होते रहने के सपने देखता है, वह पाता कुछ नहीं खोता बहुत है। मोर्चे से जूझने में जितने मरते हैं उनकी तुलना में उनसे डरने के कारण, बेमौत मरने वाले कायरों की संख्या कहीं अधिक होती है। भ्रूण की शरीर सम्पदा बढ़ती है तो साथ ही आकार भी बढ़ता है। बाल की नोक या नाखून बराबर जितने शरीर को पेट में कुछ विशेष स्थान नहीं था, पर जब आकार बढ़ेगा तो स्थान भी अधिक चाहिए ही। बच्चे के बढ़े हुए शरीर पर माता के पेट का दबाव बढ़ता है। साथ ही उसके चलने-फिरने, उठने-बैठने की क्रिया भी भ्रूण को प्रभावित करती है। ऐसी स्थिति में वह सुरक्षा-कवच आवश्यक है। युद्धात्मक जीवन संघर्ष के क्षेत्र में भ्रूण को कवच धारण करके उतरना पड़ता है और उसकी आवश्यकता मृत्यु पर्यन्त बनी ही रहती है। स्वावलम्बन की—स्वतंत्र पृथक अस्तित्व की—प्रवृत्ति के लिए अपने पैरों खड़े होने की जो शिक्षा प्रथम मास में बालक-भ्रूण में आरोपित की गई थी, उसे यदि भविष्य में भी अपनाये रखा जा सके तो प्रगति की असीम सम्भावनाएँ मूर्तिमान होती रहती हैं।

एक महीने का भ्रूण एक इंच के चौथाई भाग जितना लम्बा होता है। तभी से उसके हृदय, मस्तिष्क, फेफड़े और आँतें बनना शुरू हो जाती हैं। दूसरे महीने के अन्त तक जीव की आकृति मानव-

पछाड़ करनी पड़ती है। आरम्भिक कुछ महीनों के कुछ में निम्नता-कृमता होता है। पीछे वह मेंढक जैसा बनता है। फिर उसकी आकृति छोटे पशुओं के समतुल्य होती है सम्भवतः यह विकासवाद परम्परा का क्रम है। शरीर की मूल-सत्ता आदिम स्मृतियों को धारण किये रहती है और अपना काम वहीं से आरम्भ करती है। किन्तु विकसित जीव उससे अपना काम चलता नहीं देखता। फलतः वह अपनी मर्जी के गठन में जुटता है। कुछों के परिवर्तन में देखी जाने वाली प्रकृति यदि आगे भी चलती रहे तो पशु-प्रवृत्तियों में तद्-अनुरूप उलट पलट होगा और आत्म-गौरव के अनुरूप उच्चस्तरीय प्रकृति धारण करना और प्रकृति अपना लेना कुछ भी कठिन न रह जायगा।

पहले महीने में भ्रूण की जो स्थिति होती है। दूसरे महीने में उसका क्रम बढ़ता ही चला जाता है। पहले महीने की तुलना में उसकी लम्बाई छः गुनी और वजन ५०० गुना बढ़ता है। ज्ञानेन्द्रियों के निशान-चिह्न की हड्डी—अस्थियों का ढाँचा—तन्त्रिकाओं का जाल—इसी अवधि में विनिर्मित होने आरम्भ हो जाते हैं।

तीसरे महीने में यों शरीर के अन्य अवयव भी स्पन्दन, धड़कन और हलचल करते देखे जाते हैं, पर सबसे अधिक उथल-पुथल आँखों में होती है। ये होती तो अनगढ़ रत्ती की तरह हैं, पर उनकी सक्रियता देखते ही बनती है। पूर्ण मनुष्य की आँखें जितनी शक्ति से काम करती हैं, उसकी तुलना में भ्रूण की आँखें प्रायः हजार गुना अधिक पुरुषार्थ कर रही होती हैं। जीव चेतना की सूक्ष्म क्षमता का यह प्रारम्भिक परिचय है इससे उसकी आत्मिक सामर्थ्य का पता चलता है। यदि इसे कुंठित न किया जाय तो पेट की पालन शक्ति अद्भुत स्तर तक अपनी क्रियाशीलता का परिचय दे भी सकती है।

शरीर में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अवयव दो हैं, एक मस्तिष्क दूसरा हृदय। तीसरे महीने इनका विकास आरम्भ हो जाता है। बुद्धि और भावना

की दो क्षमताएँ ही ऐसी हैं जो मनुष्य को अभीष्ट गति और [illegible] दिशा देती हैं। विकास साधनों के आधार पर नहीं, इन्हीं दो आधारों, दो विभूतियों के आधार पर होता है। सफलताएँ और असफलताएँ तो इन दो तत्वों की प्रतिक्रिया मात्र हैं। गर्भस्थ शिशु इन्हें विकसित करने की आवश्यकता समझता है और किसी योग्य हो सकने की स्थिति में आने के लिए दो महीने की अवधि पूरी होते ही वह इन दो अति महत्वपूर्ण केन्द्रों के विकसित करने में जुट जाता है। उन दिनों इन पर जितना श्रम होता है उतना ही यदि जन्मकाल के उपरान्त भी किया जा सके तो मनुष्य की ज्ञान सम्पदा और भावविभूति की भारी उन्नति हो सकती है। ऐसा मनुष्य देवात्मा स्तर का आदर्श जीवनयापन कर सकता है।

लिंग भेद की पृथकता तीसरे महीने से प्रारम्भ होती है। उससे पूर्व भ्रूण में उभय-लिंगी लक्षण होते हैं। दोनों में से किस लिंग का चुनाव करता है यह उसकी अपनी [illegible] प्रकृति पर निर्भर है। जीव की पसन्दगी के आधार पर ही उसका [illegible] अव्यक्त लिंग विकसित होने लगता है। प्रकृति ने दोनों ही अनुदान उसके सामने खुले रखे हैं। जिसे भी जीव चुनना चाहे वह [illegible] उसमें से एक को स्वीकार और दूसरे को अस्वीकार कर सकता है।

जन्म लेते ही मनुष्य जीवन संघर्ष के लिए बाहर [illegible] आरम्भ करता है। भीतर और बाहर की परिस्थितियों में भारी अन्तर होता है। उदर के सुरक्षित गर्भ में उसे बाहरी आघातों का सामना नहीं करना पड़ता था। पर बाहर की ऋतु प्रभाव से लेकर अनेक विकृतियों से भरा हुआ नया एवं आश्चर्यजनक संसार होता है। आहार, विश्राम, मलत्याग आदि का सर्वथा नई परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। इस परिवर्तन को ठीक ही वैसा [illegible] समझा जा सकता है जैसे एक लोक के प्राणी को दूसरे लोक में बसने के समान [illegible] है। स्थिति का सामना करने के लिए अद्भुत [illegible]

चाहिए। यह अनुदान कोई और नहीं दे सकता। जीव को अपने ही बलबूते उपार्जित करना पड़ता है। जन्म लेते ही वह अपने शरीर को नई परिस्थितियों से टक्कर लेने, योग्य बनाने के लिए प्रचण्ड प्रयास करता है। इसको जन्म काल में बालक की विचित्र गतिविधियों के रूप में देखा जा सकता है। नवजात शिशु जन्म लेते ही रोता है, खाँसता है, चिल्लाता है, हाथ-पैर पीटता है, यह सब क्या है? इसे उसका सामर्थ्य सम्पादन प्रयत्न ही कहा जा सकता है। गर्भ रज्जु कटते ही उसे स्वावलम्बन का उत्तरदायित्व सम्भालना पड़ता है। तब माता उसके विकास में सीमित सहयोग ही दे पाती है। इस संसार का यही नियम है कि जीव को अपने बलबूते निर्वाह और प्रगति के साधन जुटाने पड़ते हैं। सहयोग तो आदान-प्रदान के सिद्धान्त पर ही टिकता है। उदार अनुदान तो क्रमशः घटते ही जाते हैं? माता की सहायता गर्भकाल जितनी कहाँ मिलती है। उसका अनुपात क्रमशः घटता ही जाता है। बालक इस कमी को अपने स्वावलम्बी प्रयासों से पूरी करता है।

पेट से बाहर आने में कष्ट तो माता को होता है, पर उसके बाहर आने की प्रक्रिया में प्रबल चेष्टा और प्रचण्ड आकांक्षा शिशु की ही काम कर रही होती है। गर्भस्थ शिशु अतिशय दुर्बल हो तो वह माता की कितनी ही इच्छा होने पर भी बाहर न आ सकेगा। उसे माता का पेट चीर कर ही बाहर निकालना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि जन्मने के तुरन्त बाद बालक रोये, चिल्लाये नहीं हाथ पैर न पीटे तो उसका जीवित रहना कठिन हो जायगा। ऐसी स्थिति होने पर चतुर दाइयाँ ठंडे पानी के छींटे देकर या दूसरे कृत्रिम उपायों से बच्चे को रोने, चिल्लाने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। कहावत है कि बिना रोये माता दूध नहीं पिलाती। प्रकृति भी समर्थता का उपहार बालक को तभी देती है जब वह इसके लिए भारी उद्योग प्रयास करे। रोने चिल्लाने में इसी सत्य की प्रत्यक्षता का आभास मिलता है।

जीव को जन्म लेने के उपरान्त नये लोक में प्रवेश कर सके

उत्तरदायित्व सम्भालने, नये लोगों के साथ तालमेल बिठाने, नई परिस्थितियों को समझने, नये साधन उपयोग करने की तरह हर स्तर की नवीनता से परिचित ही नहीं अभ्यस्त भी होना पड़ता है। इसके लिए क्या कुछ सीखना और क्या कुछ करना पड़ता है इसकी कल्पना भी इस समय तो अपने लिए कठिन ही है।

जीव को प्रसुप्ति से जागृति में आने और तज्जनित परिस्थितियों का सामना करने में कितने प्रबल पुरुषार्थ और कितनी अधिक क्षमता की आवश्यकता पड़ती है इसे देखकर उसकी मौलिक महिमा का अनुमान लगाया जा सकता है।

आत्मा की सामर्थ्य का मूल स्रोत परमात्मा है। परमात्मा अनन्त समर्थता का पुंज है। फिर उससे अविच्छिन्न सम्बन्ध सूत्रों के साथ जुड़ा हुआ आत्मा ही क्यों किसी प्रकार अभावग्रस्त हो सकता है? अन्नमय कोश काय-कलेवर हाड़ मांस का पिटारा नहीं है। उसके रोम-रोम में आत्म सत्ता ओत-प्रोत है। अपने आरम्भिक दिनों में जीव अपने शरीर को जिस प्रबल पुरुषार्थ के सहारे विकसित करता है वह समर्थता उसमें सदैव बनी रहती है। उसे विस्मृत और उपेक्षित पड़े रहने देने से ही हमें दीन और दुर्बल स्थिति का सामना करना पड़ता है।

इस संसार में प्रकृति की तीन शक्तियां भरी पड़ी हैं। इन्हीं की प्रेरणा से विभिन्न जड़—अपने-अपने ढंग की विविध हलचलें करते दिखाई पड़ते हैं इन तीन शक्तियों का नाम है—(१) विद्युत (२) ताप (३) प्रकाश। अगणित क्षेत्रों में असंख्य प्रकार के क्रियाकलापों का संचार इन्हीं के द्वारा होता है। शरीर में भी यह तीन शक्तियाँ विद्यमान हैं और अपनी स्थिति के अनुरूप विभिन्न अवयवों में विभिन्न प्रकार के कार्य करती हैं।

स्नायु मण्डल में 'विद्युत' धारा का संचार रहता है मस्तिष्क उसका केन्द्र है। इन्द्रिय केन्द्रों पर उसी का अधिकार है। ज्ञान तन्तुओं के द्वारा केन्द्र तक सूचना पहुँचाना और वहाँ से निर्देश [illegible]

अवयवों के द्वारा सम्पन्न कराना इसी शक्ति का काम है। मनःसंस्थान की समस्त गतिविधियां इसी के द्वारा सञ्चालित होती हैं।

विकास से सम्बन्धित समस्त हलचलें प्रकाश तरंगों द्वारा सम्पन्न होती हैं। सूर्य की प्रकाश किरणें वनस्पतियों की अभिवृद्धि एवं प्राणियों में प्राण संचार का प्रयोजन पूरा करती हैं और भी बहुत कुछ उनके द्वारा होता है। वायु के साथ होने वाली अभिवृद्धि को यह प्रकाश तत्व ही संजोता है।

आध्यात्मिक अलंकारों में विद्युत को ब्रह्मा, प्रकाश को विष्णु और ताप को शिव माना गया है। मनःक्षेत्र में इनको क्रमशः भावना, इच्छा और क्रिया के रूप में दृष्टिगोचर होती है। ब्रह्माण्ड भी विराट् पुरुष का एक सुविस्तृत शरीर ही है। इसमें विद्युत तत्व सत, प्रकाश रज और ताप को तम रूप में प्रतिपादित किया गया है।

आन्तरिक स्थिति में हेर-फेर करके बाहर की स्थिति बदली जा सकती है। सभी जानते हैं कि मनःस्थिति ही भली-बुरी परिस्थितियाँ उत्पन्न करती है। अन्तरंग को बदलने पर बहिरंग सहज ही बदला जा सकता है। शारीरिक स्थिति में सुधार परिवर्तन करना हो तो उस उपकरण के अन्तराल में काम कर रही सूक्ष्म क्षमताओं को देखना सम्भालना होगा। कारखाने की मशीनें ठप्प हों तो समझना चाहिए कि विद्युत धारा या भाप ताप के शक्ति स्रोतों में कहीं कुछ अड़चन उत्पन्न हो गई है। मशीनों की देखभाल करना भी उचित है, पर आधार तो शक्ति स्रोतों पर निर्भर है। शरीरगत दुर्बलता, रुग्णता को दूर करने के लिए आहार-विहार की गड़बड़ियों को सुधारना और चिकित्सा उपचार पर ध्यान देना आवश्यक है, पर काम इतने से ही नहीं चल सकता। देखना यह भी होगा कि अवयवों के सञ्चालन करने के लिए उत्तरदायी सूक्ष्म शक्तियों की प्रखरता ठीक प्रकार बन रही है या नहीं। शरीर 'जीन फ्रेम' पर चलने वाली मोटर है। इस गाड़ी

तारों का ठीक स्थिति में होना आवश्यक है। जिससे शक्ति संचार में अवरोध उत्पन्न न होने पाये।

अवयवों को कई प्रकार की बुरी आदतें घेर लेती हैं—इन्द्रियों को उच्छृंखलता बरतने का अभ्यास पड़ जाता है—दुर्व्यसनों को इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत लिया जा सकता है। आलस्य में अवयवों की अशक्तता का दोष कम और आन्तरिक स्फूर्ति की न्यूनता का कारण अधिक काम कर रहा होता है। इन दोष दुर्गुणों को ठीक करने के लिए मात्र शारीरिक अवयवों को दोष देना अथवा उसी की ठोंक पीट करना पर्याप्त न होगा। शरीर में संव्याप्त अन्तःचेतना की भी देख भाल करनी होगी। यही स्थूल शरीर का अध्यात्म विज्ञान है। यदि स्तर की गहराई तक पहुँचा जा सके और वहाँ सुधारने उभारने का कौशल प्राप्त हो सके तो शरीरगत दोष दुर्गुणों, दुर्बलता एवं रुग्णता को—निरस्त कर सकना सरलतापूर्वक सम्भव हो सकता है।



अद्भुत और विलक्षण मानवी काया

मानवी शरीर यों उपेक्षित परिभाषा में एक 'चलता-फिरता पेड़' है। भौतिक दृष्टि से उसकी और कुछ व्याख्या हो भी नहीं सकती। वनस्पतियों में पाये जाने वाले रसायन ही न्यूनाधिक मात्रा में उसमें भी पाये जाते हैं। जन्म, वृद्धि और मरण के चक्र में घास-पात की तरह मनुष्य भी भ्रमण करता है आहार और सांस लेने की क्रिया ही पौधों की तरह उसे भी जीवित रखती है। फिर भी पौधे और मनुष्य के बीच पाये जाने वाले अन्तर पर दृष्टिपात करने से हमें दोनों के बीच हर क्षेत्र में मौलिक अन्तर दृष्टिगोचर होता है। विशिष्टता मानवी काया के रोम-रोम में संव्याप्त है। आत्मिक गरिमा पर विचार करना पीछे के लिए छोड़कर मात्र काय संरचना और उसकी क्षमता पर विचार करें तो इस क्षेत्र में भी सब कुछ अद्भुत दीखता है। वनस्पति तो क्या—पिछड़े स्तर के प्राणि—शरीरों में भी वे विशेषताएँ नहीं मिलतीं जो मनुष्य के छोटे और बड़े अवयवों में सन्निहित हैं। कलाकार ने अपनी सारी कला को इसके निर्माण में झोंका है।

शरीर रचना से लेकर मनःसंस्थान और अन्तःकरण की सत्ता

सम्वेदनाओं तक सर्वत्र असाधारण ही असाधारण दृष्टिगोचर होता है। यह सोद्देश्य होना चाहिए। अन्यथा एक ही घटक पर कलाकार का इतना श्रम और कौशल नियोजित होने की क्या आवश्यकता थी ? यह मात्र संयोग नहीं है और न इसे रचनाकार का कौतुक—कौतूहल कहा जाना चाहिए। मनुष्य को विशेष प्रयोजन के लिए बनाया गया। इस 'विशेष' को सम्पन्न करने के लिए उसका प्रत्येक उपकरण इस योग्य बनाया गया है कि उसके कण-कण में विशेषता देखी जा सके। इन साधन उपकरणों के सहारे ही वह आत्म-कल्याण एवं विश्व-कल्याण जैसे महान् प्रयोजन सम्पन्न कर सकने में समर्थ हो सकता है सृष्टा ने इसी साज-सज्जा से अलंकृत करके उसे इस संसार में अभीष्ट कर्त्तव्यों का निर्वाह करने के लिए भेजा है।

हृदय की धड़कन में सिकुड़ने की—सिस्टोल और फैलने की—डाइस्टोल क्रिया होती रहती है। इसी क्रिया के कारण रक्त-संचार होता है और जीवन के समस्त क्रिया-कलाप चलते हैं। यह रक्त प्रवाह नदी नाले की तरह नहीं चलता, वरन् पम्पिंग स्टेशन जैसी विशेषता उसमें रहती है। पम्प में झटका मारने की क्रिया होती है। उससे गति मिलती है। नीचे की दिशा में तो प्रवाह अपने आप भी होता है, पर ऊपर की ओर ले जाना हो तो उसके पीछे शक्ति का दबाव होना आवश्यक है। आकुंचन-प्रकुंचन से झटका लगता है और उसके दबाव से रक्त-चक्र नीचे जाने और ऊपर आने की दोनों आवश्यकताएँ पूरी कर लेता है। हृदय की धड़कन रक्त के परिभ्रमण में काम आने वाली गति की व्यवस्था करती है।

कोई यन्त्र लगातार काम करने से गरम हो जाता है। श्रम के साथ विश्राम भी आवश्यक है। श्रम में शक्ति का व्यय होता है, विश्राम उसको फिर से जुटा देता है। हृदय के आकुंचन-प्रकुंचन में जहाँ झटके द्वारा शक्ति उत्पादन की आवश्यकता पूरी होती है वहाँ इन दोनों क्रियाओं के बीच मध्यान्तर की अवधि में विश्राम का लाभ

भी इसे सिकुड़ना पड़ता है। एक-धड़कन एक मिनट के ७२ वें भाग में संकुचन के पांच बटे छः भाग में सम्पन्न होती है। इस स्वल्प अवधि में ही असंख्य विद्युत तरंगें इस संस्थान से प्रसारित होती हैं। इन तरंगों के विद्युत आवेगों को इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम के माध्यम से लिखकर हृदय की स्वास्थ्य परीक्षा की जाती है।

हृदय के समान ही फेफड़े भी आजीवन कभी विश्राम नहीं करते। २० से ३० बार प्रति मिनट श्वास लेकर ये बार-बार भरते और शरीर को ताजगी प्रदान करते रहते हैं। शरीर में दूषित वायु कार्बन-डाई-आक्साइड गैस को बाहर निकालना और शुद्ध वायु आक्सिजन को शरीर पोषण के लिए उपलब्ध कराना यह दुहरा उत्तरदायित्व फेफड़ों को निबाहना पड़ता है। फेफड़ों के अंदर से भी न दीख पड़ने वाली बहुत पतली वायु नलिकाएँ चलती हैं। इन ४० नलिकाओं के मिलने से एक वायुकोष्ठ—एल्वीओल बनता है यही सघन होकर फेफड़े का रूप लेते हैं। इनकी संख्या प्रायः १५०० होती है। इन्हें श्वास विभाग के सफाई कर्मचारी भी कहा जा सकता है। इन वायुकोष्ठों की संख्या अद्भुत है। इन्हें पूरी तरह फैलने का अवसर मिले तो ये समूचे शरीर से ५५ गुने विस्तार में फैल सकते हैं।

साधारणतया उपलब्ध आक्सिजन का ४% प्रतिशत भाग ही शरीर ग्रहण कर पाता है यदि श्वास गहरी और लम्बी लेने का अभ्यास डाल लिया जाय तो तीन गुनी अर्थात् १२% तक आक्सिजन ग्रहण की जा सकती है। इस उपार्जन का लाभ भी शरीर पोषण के लिए तीन गुना अधिक प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार सफाई का कार्य तीन गुना बढ़ सकता है। जिस अनुपात से गहरी सांस द्वारा आक्सिजन अधिक ग्रहण की जा सकती है इसी प्रकार कार्बन-डाई-आक्साइड को भी ४% प्रतिशत के स्थान पर १२% के अनुपात से बाहर निकाला जा सकता है। कल्पना न होगी कि शक्ति ग्रहण करने और विकार निकालने के अनुपात बढ़ जाएँ तो इससे शारीरिक

वृद्धि में अत्यधिक लाभ मिलेगा। गहरी और लम्बी साँस लेने की सामान्य प्रणाली, डीप ब्रीदिंग, भौतिक विज्ञान की प्राणायाम प्रक्रिया कहलाती है। इसमें आध्यात्मिक आधारों को भी मिला दिया जाय तो फेंफड़े स्वास्थ्य सम्वर्धन में अद्भुत भूमिका निभाने लगते हैं।

हृदय और फेंफड़े ही नहीं अन्य छोटे दीखने वाले अवयव भी अपना काम अद्भुत रीति से सम्पन्न करते हैं। गुर्दों की गांठें देखने में मुट्ठी भर आकार की—भूरे कत्थई रङ्ग की—सेम के बीज जैसे आकृति की—लगभग १५० ग्राम भारी हैं। प्रत्येक गुर्दा प्रायः ४ इन्च लम्बा, २.५ इंच चौड़ा और २ इंच मोटा होता है। जिस प्रकार फेंफड़े सांस को साफ करते हैं, उसी प्रकार जलअंश की सफाई इन गुर्दों के जिम्मे है। गुर्दे रक्त में घुले रहने वाले नमक, पोटेशियम, कैल्शियम, मैगनीशियम आदि पर कड़ी नजर रखते हैं। इनकी मात्रा जरा भी बढ़ जाय तो शरीर पर घातक प्रभाव डालती है। शरीर में जल की भी एक सीमित मात्रा होनी चाहिए। रक्त में क्षारीय एवं अम्लीय अंश न बढ़ने पाये इसका ध्यान भी गुर्दों को ही रखना पड़ता है। छानते समय इन सब बातों की सावधानी वे पुरी तरह रखते हैं। गुर्दे एक प्रकार की छलनी हैं। उसमें १० लाख से भी अधिक नलिकाएँ होती हैं। इन सबको लम्बी कतार में रखा जाय तो वे ११० किलोमीटर लम्बी डोरी बन जायेंगी। एक घण्टे में गुर्दे रक्त छानते हैं जिसका वजन शरीर के भार से दूना होता है। विटामिन अमीनो अम्ल, हारमोन, शकर जैसे उपयोगी तत्व रक्त को वापिस कर दिये जाते हैं। नमक ही सबसे ज्यादा अनावश्यक मात्रा में होता है। यदि यह रुकना शुरू करदे तो सारे शरीर पर सूजन चढ़ने लगेगी।। गुर्दे ही हैं जो इन अनावश्यक को निरन्तर बाहर फेंकने में लगे रहते हैं।

दोनों गुर्दों में परस्पर अति सघन सहयोग है। एक खराब हो जाय तो दूसरा उसका बोझ अपने ऊपर उठा लेता है। गुर्दे प्रतिदिन प्रायः दो लीटर मूत्र निकालते हैं। मनुष्य अनावश्यक और हानिकारक

पदार्थ खाने से बाज नहीं आता। इसका प्रायश्चित्त गुर्दों को करना पड़ता है। नमक, फास्फेट, सल्फेट, पोटैशियम, कैल्शियम, मैग्नेशियम, सोडा, क्रियाटिनिन, यूरिया, अमोनिया, यूरिक एसिड, हिप्यूरिक एसिड, नाइट्रोजन आदि पदार्थों की प्रचलित आहार पद्धति में भरमार है। गुर्दे इस कचरे को मूत्र मार्ग से बाहर करने और स्वास्थ्य सन्तुलन बनाये रखने का उत्तरदायित्व निबाहते हैं। यदि ये अपने काम में तनिक भी ढील करदें तो मनुष्य ढोल की तरह फूल जायगा और देखते-देखते प्राण गँवा देगा।

आमाशय का मोटा काम भोजन हजम करना माना जाता है पर यह क्रिया कितनी जटिल और विलक्षण है। इस पर दृष्टिपात करने से आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है, इसे छोटी थैली को एक अद्भुत रसायनशाला की संज्ञा दी जाती है- जिसमें सम्मिश्रणों के आधार पर कुछ से कुछ बना लिया जाता रहता है। कहाँ अन्न और कहाँ रक्त ? एक स्थिति को दूसरी में बदलने के लिए उसके बीच इतने असाधारण परिवर्तन होते हैं—इतने अधिक रासायनिक सम्मिश्रण मिलते हैं कि इस स्तर के प्रयोगों की संसार भर में कहीं भी उपमा नहीं ढूँढ़ी जा सकती। आमाशय में पाये जाने वाले लवणाम्ल, पेप्सीन, रेनेट आदि भोजन को आटे की तरह गूँधते हैं। लवणाम्ल खाद्य-पदार्थों में रहने वाले रोग कीटाणुओं का नाश करते हैं। पेप्सीन के साथ मिलकर ये प्रोटीनों से 'पेप्टोन' बनाते हैं। पैंक्रियाज से पाये जाने वाले इन्सुलीन आदि रसायन शक्कर को सन्तुलित करते हैं और आँतों के काम को सरल बनाते हैं इससे अधिक प्रकार के—इतनी अद्भुत प्रकृति के—इतनी विलक्षण प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करने वाले रासायनिक प्रयोग मनुष्यकृत प्रयोग प्रक्रिया द्वारा सम्भव हो सकते हैं इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। आमाशय की रासायनिक प्रयोगशाला क्या—क्या कौतुक रचती है और क्या से क्या बना देती है ? इसे किसी बाजीगर की विलक्षण जादूगरी से कम नहीं कहा जा सकता।

यों तो कर्त्ता की कारीगरी का परिचय रोम-रोम और कण-कण में दृष्टिगोचर होता है, पर आँख कान जैसे अवयवों पर हुई कारीगरी तो अपनी विलक्षण संरचना से बुद्धि को चकित ही कर देती है। आँख जैसा कैमरा मनुष्य द्वारा कभी बन सकेगा। इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। कैमरों में नाभ्यान्तर—फोकल लेन्थ—को बदला जा सके ऐसे कैमरे कहीं नहीं बने। फोटो लेने के लिये अच्छे कैमरों के लेन्स भी पहले एक निश्चित नाभ्यान्तर पर फिट करने होते हैं। फिल्मों तक में फोटो दृश्य और कैमरे की दूरी का सन्तुलन मिलाकर फोकस सही करना पड़ता है। इस व्यवस्था को बनाये बिना अभीष्ट फोटो खिंच ही नहीं सकेगा। किन्तु नेत्र संरचना में ऐसा कुछ नहीं करना पड़ता। वे निकट से निकट और दूर से दूर को भी—आँखों को बिना आगे-पीछे हटाये—मजे में देखते रह सकते हैं। प्रिज्म या थ्रीडायमेन्शनल कैमरे अद्भुत माने जाते हैं। पर वे भी रंगों का वर्गीकरण उस तरह नहीं कर सकते जैसा कि आँखें करती हैं। सुरक्षा सफाई का 'प्रबन्ध' जैसा आँखों में है वैसा किसी कैमरे में नहीं। पहले उलटा फोटो लेते हे, फिर दुबारा प्रिंट करके उन्हें सीधा करना पड़ता है किन्तु आँखें सीधा एक ही बार में सही फोटो उतार लेती हैं।

कान जैसा,साउण्ड फिल्टर' यन्त्र कभी मनुष्य द्वारा बन सकेगा, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। रेडियो और वायरलैस की आवाजें एक निश्चित 'फ्रीक्वेन्सी' पर ही सुनी जा सकती हैं। कानों के सामने इस प्रकार की कोई कठिनाई नहीं है। वे किसी भी तरह की—नीची ऊँची हलकी आवाज सुन सकते हैं। कई आवाजें एक साथ सुनने या कोलाहल के बीच अपने ही व्यक्ति की बात सुन लेने की क्षमता हमारे ही कानों में होती है। ध्वनि साफ करने के लिए 'रेक्टीफायर' का प्रयोग किया जाता है। कुछ यन्त्रों में 'वैक्यूम सिस्टम' एवं 'गैस सिस्टम' से ध्वनि साफ की जाती है। उनमें लगे धन प्लेट 'एनोड' और ऋण प्लेट 'कैथोड' के साथ 'ग्रिड' जोड़ना पड़ता है तब कहीं

एक सीमा तक आवाज साफ होती है। किन्तु कान की तीन हड्डियों स्टेपिस, मेलियस और इंकस में इतनी स्वच्छ प्रणाली विद्यमान है कि वे आवाज को उसके असली रूप में बिना किसी कठिनाई के सुन सकें। न मात्र सुनने की है उस सन्देश के अनुरूप अपना चिन्तन और कर्म निर्धारित करने के लिए प्रेरणा देने वाली विद्युत प्रणाली कानों में विद्यमान है। साँप की फुसकार सुनते ही यह प्रणाली खतरे से सावधान करती है और भाग चलने की प्रेरणा देने के लिए रोंगटे खड़े कर देती है। ऐसी बहुउद्देशीय संरचना किन्हीं ध्वनि-ग्राहक यन्त्रों में सम्भव नहीं हो सकती।

शरीर पूरा जादू घर है। उसकी कोशिकाएँ, तन्तुजाल जिस प्रकार जीवन-मरण की गुत्थियाँ स्वयं सुलझाते हैं और समूची काया को समर्थ बनाये रहने में योगदान करते हैं यह देखते ही बनता है। अन्नमय कोश जिसे स्थूल शरीर भी कहते हैं। परमेश्वर की विचित्र कारीगरी से भरा-पूरा है। उसके किसी भी अवयव पर दृष्टिपात किया जाय उसमें एक से एक बढ़ी-चढ़ी अपने-अपने ढङ्ग की विलक्षणताएँ प्रतीत होंगी।

● अवयव ही नहीं इकाई भी अद्भुत

शरीर के यह अंग अवयव ही नहीं, जिन घटकों से यह बना है वे भी कम विलक्षण और अद्भुत नहीं हैं। जीवन की मूल इकाई कोशिका है जिसे सैल या कोशा भी कहते हैं। यह शरीर का सबसे छोटा किन्तु मूल घटक है, जिस प्रकार पदार्थ का मूल घटक परमाणु होता है उसी प्रकार कोशा को जीवन का मूल घटक कहा जाता है। यों शरीर-अरबों खरबों कोशिकाओं से बना होता है लेकिन प्रत्येक कोशिका अपने आप में अद्भुत विलक्षणता लिये रहती है। कोशा रासायनिक पदार्थों से मिलकर बनती है पर उसके मध्य में जो 'नाभिक' है उसी को कोशा ब्रह्माण्ड का बिजली घर कह सकते हैं

यही से सारी हलचलों का प्रवाह चलता है। अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि रासायनिक खोखला कलेवर मात्र है, उसका मूल जीवन नाभिक के केन्द्र में सन्निहित है और वह 'विद्युत' रूप है। इस प्रकार अब जीवन की व्याख्या एक विशिष्ट विद्युत प्रवाह के रूप में की जाने लगी है और यह माना जाने लगा है कि यह बिजली सामान्य विद्युत जैसी दिखाई पड़ने पर भी उसके भीतर एक सुव्यवस्थित क्रम व्यवस्था ही नहीं जीवनोपयोगी चेतना भी विद्यमान है। जड़ के अन्तर्गत इस चेतना की विद्यमानता इन्हीं दिनों मूर्धन्य वैज्ञानिकों द्वारा स्वीकार की गई है। अब मनुष्य सर्वथा जड़—मात्र रासायनिक संयोग नहीं रहा। वह निन्मय स्वीकार कर लिया गया।

किंग्स कालेज लन्दन के डा० विल्किन्स ने अपने अन्वेषण का निष्कर्ष बताया कि-कोशिका अपने आप में उतनी आश्चर्यजनक नहीं है जितनी उसके अन्दर के दूसरे कण और क्रियायें महत्वपूर्ण हैं, इनमें से नाभिक का केन्द्रक (न्यूक्लियस) और उसमें लिपटे हुये क्रोमोसोम, स्पूतनिक की तरह कोशिका के आकाश में स्थित 'सेन्टोसोम' जो कोषों के विकास में सहायक होता है, पारदर्शी गुब्बारे जैसा वह भाग जो भोजन को शक्ति में बदलता है, वह भी एक से एक बढ़ कर आश्चर्य जनक हैं। न्यूक्लियस कोशिका का वह गुम्बदाकार भाग है, जहाँ से पूरे शरीर का सूत्र संचालन होता है। गुण सूत्र (क्रोमोसोम) की जटिलता और भी अधिक है, क्योंकि उन पर वंशज के गुण, शारीरिक विकास और अनुवांशिकता आधारित है, इसलिए इनकी खोज में वैज्ञानिक तीव्रता से जुट गये।

'जीन्स' जिन्हें आज का वैज्ञानिक जीवन की इकाई मानता है, इन्हीं गुण-सूत्रों का ही एक अत्यन्त सूक्ष्म अवयव है। जिस प्रकार एक डोरे में थोड़ी-थोड़ी दूर पर गांठें लगा देते हैं। इन गुण सूत्रों में भी गाँठें लगी हुई है, इन गांठों को ही 'जीन्स' कहते हैं। एक कोशिका में

जीन्स जो कुण्डली मारे बैठे रहते हैं, उन्हें यदि खींच कर सीधा कर दिया जाय तो ५ फीट तक लम्बे पहुँच सकते हैं। हमारा शरीर चूँकि कोशिकाओं की ईंटों से बना हुआ होता है और एक युवक के शरीर में यह कोशिकायें ६०० खरब तक होती है, इसलिए यदि सम्पूर्ण शरीर के 'जीन्स' को खींच कर रस्सी बनाई जाये तो वह इतनी बड़ी होगी, जिससे सारे ब्रह्माण्ड को नाप लिया जाना सम्भव हो जायेगा।

आत्मा सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है। सम्भवतः यह जीन्स इस भारतीय मत की पुष्टि करें। पर जीन्स को ही आत्मा नहीं मान लेना चाहिए। वह चेतन आत्मा का एक अणु हो सकता है, पर आत्मा नहीं। सूर्य एक आत्मा है, उसकी एक किरण वहां से चलती है और किसी स्थान पर वहां की ऊर्जा पहुँचाती रहती है, बहुत सम्भव है उसी तरह उस किरण जाल से सूर्य भी स्थान-स्थान की खोजखबर लेता रहता हो। यह किरणें भी प्रकाश के छोटे अणु (एटम) से बने हैं और प्रत्येक अणु में सूर्य जैसी क्षमतायें विद्यमान होती हैं, उतनी ही ऊर्जा (एनर्जी) उतनी ही चमक और वैसी ही आकृति, पर वह सूर्य नहीं हो सकता यह तो सूर्य का एक अणु मात्र है। अणु को पकड़ा, तोड़ा और मरोड़ा जा सकता है पर सूर्य को तोड़ डालने की शक्ति विज्ञान ने कहां पाई है। सूर्य अपने आप में एक स्वतन्त्र सत्ता है।

'जीन्स भी ऐसे ही है। मनुष्य का कुछ छोटा या बड़ा होना, उसके बाल काले, भूरे या घुंघराले होना, नाक चौड़ी या पतली होना, आँखें नीली, काली या भूरी होना यह सारी बनावट जीन्स की बनावट पर निर्भर है, यदि विस्तृत खोज की जाय तो गर्भस्थ शिशु का एक दिन इच्छानुवर्ती निर्माण सम्भव हो जायेगा। अनुवांशिक (हेरिडिटरी) रोगों का इलाज भी तब सम्भव है, जीवधारी के पृथ्वी पर आने से पहले ही कर दिया जा सके, बहुत सम्भव है। आइन्स, टैगोर या कर्ण जैसा अर्द्धपुरुष मनुष्य भी बनाया जा सके पर यह सब मनुष्य की इच्छा पर नहीं, किसी पर्दे में काम करने वाली शक्ति की इच्छा पर ही होगा। मनुष्य

जीवों का विकसित रूप नहीं वरन् वह अमैथुनी क्रिया द्वारा ही पैदा हुआ है, यह भारतीय दर्शन की मान्यता है। जो आज की वैज्ञानिक दृष्टि में सत्य सिद्ध हो रहा है पर वह मनुष्य के लिए नितान्त असम्भव नहीं।

यह बात हम नहीं वह वैज्ञानिक भी जिन्होंने जीन्स का भी रासायनिक विश्लेपण कर लिया है, मानने लगे हैं। डा० फिलिस ने बताया कि जीन्स सर्पिल आकार के अणुओं से बने होते हैं, यह अणु 'डी आक्सी राइवो न्यूक्लिइक एसिड' (संक्षेप में डी० एन० ए०) के नाम से जाने जाते हैं। इन्हें केवल एक लाख गुना बड़ा कर दिखाने वाली (मैग्नीफाइङ्ग पावर) खुर्दबीन (माइक्रोस्कोप) से ही देखा जाना सम्भव है। इस दिशा में हारवर्ड यूनिवर्सिटी अमेरिका के डा० जेम्स वाट्सन और कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी की कैवेंडिश लैबोरेटरी के डा० फ्रांसिस क्रिक ने विस्तृत अनुसन्धान किये। उन्होंने चार प्रमुख नाइट्रोजन योगिकों १. एडीनाइन, २. साइटो साइन, ३. गुएनाइन और थाईमाइन और फास्फेट व एक प्रकार की शर्करा के रासायनिक संयोग से प्रयोगशाला में ही डी० एन० ए० अणु (मालेक्यूल) का माडल बनाकर सारे संसार को आश्चर्य-चकित कर दिया। यह जीवन-जगत् में हलचल पैदा करने वाली खोज थी। इसके आधार पर अमैथुनी कृत्रिम गर्भाधान ही संभव न हुआ वरन् चिकित्सा और शरीर विकास की अनेक अद्भुत सफलताओं का स्रोत खुल गया। डी० एन० ए० की सफलता एक दिन ऐसे शरीर बना सकेगी, जो बाजारों में साधारण मनुष्यों की तरह घूमा-फिरा करेंगे, फिर भी कोई समझ न पायेगा कि क्या ये कृत्रिम मानव हैं।

१९६२ में इन तीन वैज्ञानिकों को जब इस सम्बन्ध में नोबुल पुरस्कार दिया गया तो उन्होंने ही कहा—"सूत्र हाथ में आ गया है सूत्रधार नहीं" सम्भव है, एक दिन वह भी हाथ लग जायेगा और तब आज जो मनुष्य प्रकृति के इशारे पर नाचता है तब प्रकृति उसके

इंगित पर चलने लगे; पर अभी तो स्थिति यह है कि मनुष्य जीवन की सारी गतिविधियाँ जिनका आदेश जीन्स के द्वारा मिलता है, वह किसी और की है। जीन्स तो उसके आदेश कोशिका तक पहुँचाते रहते हैं। एक कोशिका से दूसरी कोशिका तक सारे शरीर का कार्य संचालन जीन्स के दिये गये द्वारा आदेशों पर चलता है। यह आदेश भी किसी भाषा में नहीं होते वरन् उसकी भी एक रासायनिक पद्धति है।

जीन्स से कोई तत्त्व कोशिका में गया तो वह भाग खाली होते ही ऊपर से कोई और तत्त्व को पहुँचाने की आवश्यकता प्यास रूप में प्रकट हुई। किसी ने कहा नहीं पर हम उठे और पानी पिया। पानी पीने की प्रेरणा जीन्स ने कोशिकाओं को दी, हाथ से उठा कर पी लिया पर जीन्स को यह आदेश किसने दिया। क्या जीन्स की ही इच्छा थी यह। यदि ऐसा होता तो प्रयोगशाला में बनने वाला डी० एन० ए० भी अपनी इच्छा से विकसित होने लगता।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक मुलर ने १७ वर्ष तक मक्खियों पर विविध प्रयोग करके देखा कि जीव का प्रत्येक 'कोश' प्रोटीन से बना है और जब इस प्रोटीन का रासायनिक विश्लेषण किया जाता है तो उसमें अनेक प्रकार के 'एसिड्स' और रासायनिक द्रव्य पाये जाते हैं। जो बदलते, घटते और बढ़ते भी रहते हैं। उसने ऐसे अनेक प्रयोग किए और यह प्रयत्न किया कि रासायनिक स्थिति में परिवर्तन करके क्या शारीरिक रचना में कोई परिवर्तन किया जा सकता है। इसमें उसे कोई सफलता न मिली। क्योंकि इन तत्वों के मूल में जो 'जीन' नामक तत्व था उस पर किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं हो रही थी। अर्थात् उन पर ताप, विष, शीत आदि का भी प्रभाव नहीं हो रहा था। ऐसे प्रयोग पहले भी हो चुके थे। इस बार जब मुलर ने एक्स किरणों का प्रयोग किया और वे गुण-सूत्रों को भेद कर 'जीन' तक पहुँची तो उसमें असाधारण हलचल हुई और तब जो नई मक्खियाँ पैदा हुईं उनका आकार प्रकार बिल्कुल ही भिन्न निकला और इन

तरह इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ कि 'जीन' ही जीवन से सम्बन्धित कोई तत्व है और उससे अधिक कोई जानकारी वैज्ञानिक प्राप्त नहीं कर सके।

हाँ यह अवश्य हुआ कि उन्होंने कोश के मूल को जब सूक्ष्म दर्शन यंत्रों से देखा तो उस परमाणु में ही उन्हें विशाल ब्रह्माण्ड की झाँकी अवश्य मिली। यह देखा गया कि वहाँ कई सूर्यों जितनी ऊर्जा और चमक विद्यमान है तो भी जीन के उस कारण शरीर की अभी तक कोई जानकारी वैज्ञानिक प्राप्त नहीं कर सके।

अभी इस जीन्स से भी कोई अति सूक्ष्म और सर्वव्यापी सत्ता है, इसका प्रमाण उसी की संरचना से मिल जाता है। उदाहरणार्थ डी० एन० ए० पर ही० लगभग एक अरब एमीनो एसिड क्रम से लगे रहते हैं, इन्हें वह अक्षर कह सकते हैं जो मिल कर जीन्स की आकांक्षा को व्यक्त करते हैं। जैसे भूख-प्यास, बोलना, उठना-बैठना, मिलना-जुलना, सोना, स्वप्न देखना आदि। इनका ही क्रम मनुष्य के गुणों का निर्धारण करता है। मरोड़ी हुई सीढ़ी की शक्ल में यह अणु एक जीन्स की शक्ल में दिखाई देते हैं। उन सब की अनुभूतियाँ अलग-अलग हैं, इससे यह पता चलता है कि जीन्स जहाँ कोशिका की आत्मा है, वहाँ वह शरीर गत् सम्पूर्ण चेतना का एक अङ्ग भर है और उससे अधिक कुछ नहीं।

शरीर को सामाजिकता के अधीन रहना पड़ता है, ऐसा न होता, प्रत्येक जीन्स एक स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो वह शरीर के प्रत्येक अङ्ग से मनुष्य पैदा करना आरम्भ कर देता। ऐसा वह नहीं कर सकता, मनुष्य भी परमात्मा का एक अंश है, वह अपने दायरे में निर्माण, पालन और संहार के कार्य किया करता है, पर वह विश्व-इच्छा के अधीन है। उसकी अपनी सत्ता उस सामाजिकता से अलग रही होती तो वह अपनी इच्छा से जन्म और मृत्यु का स्वामी हो जाता।

सुविकसित संतान के लिए वैज्ञानिक प्रयास



मनुष्य शरीर इतना विलक्षण और अद्भुत है कि विज्ञान के द्वारा बड़ी-बड़ी गुत्थियां को सुलझा लेने तथा रहस्यों को समझ लेने के बाद भी मनुष्य शरीर को पूरी तरह नहीं समझा जा सका है। अपनी काया को ही लिया जाय—हम जानते हैं कि हमारी काया का स्थूल भाग-अन्नमय कोश-छोटी-छोटी कोशिकाओं (सैल्स) से बना है। इन कोशिकाओं के अन्दर एक द्रव 'साइटोप्लाज्म' (कणमय पीला सा द्रव पदार्थ,) भरा रहता है। इनके बीच में अवस्थित होता है, कोशिका का नाभिक अथवा केन्द्रक (न्यूक्लियस)। पुरुष की शुक्राणु कोशिका अथवा नारी की अण्डाणु या डिम्बाणु कोशिका के नाभिक में छोटे-छोटे धागे जैसे गुण सूत्र [क्रोमोसोम]होते है। एक नाभिक में इनके २३ या २४ जोड़े होते हैं। इन्हीं में लाखों की संख्या में 'जीन्स' चिपके रहते हैं। नये मनुष्य शरीर के निर्माण तथा उनमें अनुवांशिकीय गुण धर्मों का विकास इन्हीं पर निर्भर करता है।

यह जीन्स क्या है? कैसे यह अपनी आश्चर्यजनक भूमिका पूरी करते हैं? इस रहस्य पर से विज्ञान अभी पर्दा उठा नहीं सका है। इसके सम्बन्ध में बड़ी तेजी से शोध कार्य चल रहे हैं, बहुत से

रहस्य खुले भी हैं, फिर भी वह नहीं के बराबर हैं।

अभी तक के अध्ययन के आधार पर 'जीन्स' छोटे-छोटे विद्युन्मय पुटपाक या पुड़ियाँ (पैकेट) हैं। माना जाता है कि इनकी रचना कई तरह के न्यूक्लियस अम्लों के संयोग से हुई है। उनमें से अभी केवल दो के बारे में जाना जा सका है। वे हैं (१) डी० एन० ए० (डी आक्सी राइबो न्यूक्लीक एसिड) (२) आर० एन० ए० (राइबो न्यूक्लीक एसिड)।

जीन्स की संरचना के बारे में अभी तक नहीं जाना जा सका है, किन्तु यह जानकारियाँ निश्चित रूप से हो गयी हैं कि शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की विशिष्ट रचना से लेकर अनेक परम्परागत स्वभावों, रोगों तथा गुणों के विकास की आश्चर्यजनक क्षमता इनमें है। इनके गुणों और कार्य-कलापों को कैसे नियन्त्रित किया जाय यह पता विज्ञान अभी नहीं लगा सका है, किन्तु यह माना जाने लगा है कि यदि 'जीन्स' के गुणों और कार्य-प्रणाली को प्रभावित किया जा सके, तो आश्चर्यजनक उपलब्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। यह अत्यन्त छोटे से घटक एक कोशिका के नाभिक में रहने वाले नगण्य आकार वाले विद्युन्मय पैकेट मनुष्य के आस-पास के वातावरण से लेकर उसके विचारों और भावनात्मक विशेषताओं के संस्कार ग्रहण करने में समर्थ हैं।

मनुष्य के विकास के सम्बन्ध में भारतीय मान्यता यह रही है कि उस पर अनुवांशिकता के साथ-साथ बाह्य वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है। पहले इस मान्यता के प्रति उपेक्षा बरती जाने लगी थी।

यह स्पष्ट हो गया है कि अपने वातावरण तथा अपनी चेष्टाओं द्वारा व्यक्ति जिन स्वभाव-गुणों को अर्जित करता है, वे वंशानुक्रम से प्राप्त नहीं होते और न ही कोई व्यक्ति उन अर्जित विशेषताओं को वंशानुक्रम द्वारा अपने बच्चों को प्रदान कर सकता है।

उदाहरण के लिए यदि एक व्यक्ति ने अनेक भाषाएँ सीखी है, तो वह इस भाषा-ज्ञान को अपने बच्चों को वंशानुक्रम द्वारा नहीं दे सकता। बच्चों को भी भाषा-ज्ञान की प्रचलित विधियों को ही अपनाना होगा तथा मेहनत करनी पड़ेगी। वहीं दूसरी ओर यह भी स्पष्ट हो गया है कि वंशानुक्रम का निश्चित प्रभाव सन्तान पर पड़ता है। आनुवंशिकी (जेनेटिक्स) का सारा ढांचा ही इसी आधार पर खड़ा है। यह सही है कि कोई भी व्यक्ति जङ्गली बेर के बीज बोकर उनसे गुलाब के फूलों की आशा नहीं कर सकता। गौरैया के अण्डों को सेकर उनमें से मोर के बच्चे कौन निकाल सकता है? लेकिन जिन पौधों के बीज बोये जाते हैं, उनसे उन्हीं जैसे पौधे आखिर क्यों उगते हैं? चूहों से चूहा और बिल्ली से बिल्ली ही क्यों पैदा होती है? इसका उत्तर है आनुवंशिकता अर्थात् निश्चित वंश परम्परा, जिसके कारण ही ऐसा होता है। जो वस्तु जिस वंश की होगी, उसका बीज डाले जाने पर वैसा ही फल होगा। आनुवंशिकता में काम करने का ढंग भी शामिल है और चीजों का कद तथा रंग भी। उदाहरण के लिये बया पक्षी को बढ़िया लटकने वाला घोंसला बनाना किसी को सिखाना नहीं पड़ता है।

आनुवंशिकता अपने पूर्वजों से मिलने वाली विशेषताओं का ही दूसरा नाम है। वैज्ञानिक जानते हैं कि जीवों में जो विशेषताएँ होती हैं, वे उन्हें अपने माता-पिता से अत्यन्त सूक्ष्म कणों के रूप में मिलती हैं। इन सूक्ष्म कणों को 'जीन' कहा जाता है। हमारा शरीर बहुत-सी कोशिकाओं से मिलकर बना है। 'जीन' कोशिका का ही एक भाग है। अगर किसी वट-वृक्ष की शाखा को काटकर उसे अनुकूल स्थान में ले जाकर रोप दिया जाये तो वह भी मूल पेड़ की तरह ही फलने-फूलने लगेगी। उसकी कोशिकाओं के 'जीन' अपने पहले के पेड़ की ही भांति होंगे। ठीक इसी तरह जिस तरह किसी स्थान के टुकड़े में वैसे ही चिह्न होते हैं, जैसे उस स्थान में थे जिससे वे [illegible]

टुकड़े को तोड़ा गया है।

अधिकांश पौधों और जीवों की उत्पत्ति नर और मादा से होती है। कुछ 'जीन' नर से और कुछ मादा से मिलते हैं। अकेली झाड़ी के बीज गुलाब तो नहीं, लेकिन ऐसा पौधा अवश्य उगा सकते हैं, जिसमें एक की बजाय दो तरह के फूल हों। काली बिल्ली का बच्चा एकदम सफेद हो सकता है। यदि कोई पौधा या जानवर दो तरह की विशेषता के "जीन" आनुवंशिकता द्वारा प्राप्त करता है, और दोनों का प्रभाव बराबर रहता है तो दोनों के मिलने से तीसरी विशेषता उत्पन्न होती है। अगर लाल गाय और सफेद रंग का सांड हो तो उनका बछड़ा न तो सफेद होगा और न लाल। वह भूरा, यानी दोनों के बीच के रङ्ग का हो सकता है। ऐसा हो जाने के नियम की वैज्ञानिक व्याख्या आनुवंशिकता के सिद्धान्त के आधार पर की जाती है। 'जीन' ही इस आनुवंशिकता के वाहक हैं और आनुवंशिकता की बुनियादी इकाई हैं। अभी तक किये गये परीक्षणों से यही जाना जा सका है कि व्यक्ति की शारीरिक विशेषताएँ जैसे रङ्ग, रूप, केश, नाक, खून का प्रकार, लम्बाई, ठिगनापन आदि सब ही आनुवंशिक और पितागत होते हैं। ये शारीरिक गुण भी मात्र माता-पिता से नहीं प्राप्त होते, वरन् वे दादा, परदादा तथा अन्य पूर्वजों से क्रमशः संक्रमित होकर आते हैं। वंशानुगत गुणों में माता-पिता का भाग प्रत्येक गुण में आधा होता है। यानी माँ का एक चौथाई और पिता का एक चौथाई। उनके पूर्व के चार पितरों में प्रत्येक का भाग प्रत्येक गुण का सोलहवाँ भाग होता है अर्थात् चारों पितरों का कुल भाग एक चौथाई भाग होता है। शेष १ चौथाई और दूसरी पीढ़ी से आते हैं।

व्यक्ति के संस्कार भी उसकी जन्म-जन्मान्तरों की [illegible] सम्पदाएँ और साधन हैं। किन्तु उसके [illegible] कोश, के निर्माण के घटक जीन्स-क्रोमोसोम्स तो भी [illegible]

किन्हीं सूक्ष्मताओं और जटिलताओं के आधार पर होता है, यह आनुवंशिकी की आधुनिक खोजों द्वारा भी स्पष्ट होता है। भारतीय मनीषी इन सूक्ष्मताओं से परिचित थे तभी वे सुसन्तति के लिए माता-पिता का चरित्रवान, तपस्वी-संयमी होना अनिवार्य बतलाते थे। इस प्रकार व्यवस्थित कर व्यक्ति न केवल सुयोग्य सन्तति के जनक जननी बनने की क्षमता से, अपितु उन अनेक विशिष्ट क्षमताओं, विभूतियों से सम्पन्न बनता है, जिनसे मनुष्य जीवन की सार्थकता और गरिमा है।

आनुवंशिकता का प्रभाव बिल्कुल सीधा और स्थूल नहीं होता। उदाहरण के लिए किसी माता-पिता में से दोनों को या किसी एक को टी० बी० रोग (क्षय रोग) हो तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि बच्चे को जन्म से ही टी० बी० (क्षय रोग) हो, अपितु इसका यह अर्थ है कि बच्चे के शरीर में ऐसी वृत्ति या तत्परता विद्यमान है कि क्षय रोग के कीटाणु शरीर में पहुँचते ही वहाँ जड़ पकड़ लेंगे।

इसी प्रकार मान लीजिए कि कोई बढ़ई है, जो अपने काम में बड़ा दक्ष है। यह कार्यदक्षता बच्चे में जन्मजात रूप से नहीं उत्पन्न होगी। अपितु यदि बच्चे को भी कुशल बढ़ई बनाना है, तो उसे बढ़ईगीरी का काम सिखाना ही होगा। हाँ, उस बच्चे के हाथ ऐसे हो सकते हैं, जिनके द्वारा कि उन औजारों का अधिक अच्छा उपयोग सम्भव हो, जो बढ़ईगीरी के काम आते हैं।

इसीलिए आनुवंशिकता और पर्यावरण दोनों को समान महत्व दिया जाता है। आनुवंशिकता द्वारा अर्जित गुण नहीं प्राप्त होते। कुछ जन्मजात गुणों का आधार ही आनुवंशिकता को माना जाता है। ये जन्मजात गुण वंशानुक्रम के कारण बने रहते हैं। वंशानुक्रम के लक्षण क्रोमोसोमों के आधार पर प्राप्त होते हैं। क्रोमोसोमों में होते हैं जीन, जो व्यक्ति के "कैरेक्टरिस्टिक्स" का निर्माण करते हैं।

'जीन' का व्यवहार या आचरण से सीधा सम्बन्ध नहीं होता। जीन शरीर के उत्तक तथा अङ्गों के विकास को निर्देशित नियमित करते हैं। इस प्रकार वे शरीर की क्रियाशीलता को भी नियमित करते हैं। शरीर की ये क्रियाएँ स्पष्टतः व्यवहार को भी प्रभावित करती हैं और उस रूप में जीन्स का सम्बन्ध व्यवहार से भी होता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति वंशानुक्रम से छोटी टाँगें, ठूँठदार अँगुलियाँ या बहरे कान प्राप्त करता है तो निश्चय ही कुछ क्षेत्रों में उसकी योग्यता सीमित हो जायगी इसी प्रकार शारीरिक क्रियाओं में भाग लेने वाले हजारों रासायनिक तत्व भी जीन्स द्वारा ही निर्धारित होते हैं। जैसे दृष्टि के लिए प्रकाश संबंधी तत्व यानि रक्त के जमने में कई रासायनिक तत्व योग देते हैं। इन तत्वों की उपस्थिति सशक्तता या दुर्बलता का सम्बन्ध जीन से ही होता है। ऐसे अनेक लक्षण वंशानुक्रम से सम्बन्धित होते हैं।

वंशानुक्रम के आधारभूत घटकों, जीन्स और क्रोमोसोम्स के अध्ययनों के निष्कर्ष इस तथ्य के द्योतक हैं कि संतति निर्माण का सूक्ष्म आधार कितना व्यापक और जटिल होता है। पौष्टिक भोजन मात्र से ही शरीर सुदृढ़ नहीं हो जाता। इसके विपरीत उसकी सुदृढ़ता ही भोजन के रस-परिपाक का कारण व आधार बनती है। केवल खाने-पहनने की चिन्ता करते रहने को ही जीवन का पुरुषार्थ मान बैठने वाले अन्नमय कोश के निर्माण के आधारों से अनभिज्ञ रहकर उसे अस्त-व्यस्त और दूषित, विकृत बनाते रहते हैं और भावी सन्ततियों को भी उस विकृति का अभिशाप दे जाते हैं।

एक जीन, युग्म शरीर के किसी विशेष 'कैरेक्टरिस्टिक' के विकास का निर्देश करता है। आँखें, भूरी हैं, या नीली, बाल घने काले हैं या हल्के स्वर्णिम हैं अथवा लाल, घुँघराले हैं या सीधे, सामान्य कान हैं या कनपटा हैं, दृष्टि सामान्य है, या [illegible] होने की सम्भावना है श्रवण-शक्ति सामान्य है या [illegible]

है, रक्त सामान्य है या कि "हेमोफीलिया" का दोष है, रङ्ग-बोध स्पष्ट है या वर्णान्धता दोष है, उँगलियों या अँगूठों की संख्या सामान्य है या कम-अधिक है, किसी जोड़ में कोई उँगली छोटी-बड़ी तो नहीं है, सभी अवयव सामान्य हैं या कुछ अवयव विरूप है, आदि सभी शारीरिक 'करैक्टरिस्टिक्स' जीन-युग्मों पर ही निर्भर करते हैं।

फ्रान्सीसी दार्शनिक मान्टेन को ४५ वर्ष की आयु में पथरी की बीमारी हुई। उनके पिता को यह रोग २५ वर्ष की आयु में आरम्भ हुआ। जबकि मान्टेन के जन्म के समय उनके पिता सिर्फ इक्कीस वर्ष के थे। उस समय उन्हें यह रोग नहीं था। लेकिन उनके जीन्स में इस रोग के आधार विद्यमान थे। मान्टेन की पितामह की पथरी की बीमारी कई पीढ़ियों से चली आ रही थी।

बालकों का 'गैलेक्टोसीमिया' रोग जीन्स से ही सम्बन्धित होता है। यह जीन, जब "यूरीडायल ट्रान्सफरेज एन्जाइम" नहीं बनने देता, तो बच्चे दूध में रहने वाली मिठास—गैलेक्टोस—को पचा नहीं पाते। फलतः वह खून में जमा होती रहती है और जिगर में इकट्ठी होकर बच्चे का पेट खराब कर देती है तथा मृत्यु का भी कारण बन बैठती है।

"एक्रोडर्मे टाइटिस एंटेरोपैथिका" नामक रोग का कारण भी मुख्यतः जीन्स की विकृतियाँ ही होती हैं। आँख का कैन्सर-रैटीनो ब्लास्टोमा—जीन्स-दोष का ही परिणाम है। जीन्स की 'एकोंड्रोप्लासिया'—विकृति के कारण बच्चे अविकसित रह जाते हैं। वे जल्दी मरते हैं। बच गये तो भी वंश-वृद्धि में असमर्थ होते हैं। ऐसे दोष वाली महिलाएँ गर्भवती होने पर स्वयं की भी प्राण-रक्षा नहीं कर पातीं, बच्चे की जान तो खतरे में होती ही है।

अच्छा बीज अच्छी जमीन में बोया जाय तो उससे [illegible] पौधा उगेगा और उस पर बढ़िया फल-फूल आवेंगे। इस तथ्य से क्या शिक्षित, क्या अशिक्षित सभी परिचित हैं? जिन्हें कृषि एवं उद्यान से अच्छा प्रतिफल पाने की आकांक्षा है वे इस तथ्य पर आरम्भ से ही ध्यान रखते हैं कि उत्पादन के मूलभूत आधारों को [illegible] के साथ जुटाया जाय और उनका स्तर ऊँचा रखा जाय।

यों विवाह एक निजी मामला समझा जाता है और संतानोत्पादन को भी व्यक्तिगत क्रिया-कलाप की परिधि में सम्मिलित करते हैं। पर वस्तुतः यह एक सार्वजनिक सामाजिक एवं सार्वभौम प्रश्न है। क्योंकि भावी पीढ़ियों के निर्माण की आधारशिला यही है। राष्ट्र और विश्व का भविष्य उज्ज्वल एवं सुसम्पन्न बनाने की प्रक्रिया धन समृद्धि पर टिकी हुई नहीं है, वरन् इस बात पर निर्भर है कि भावी नागरिकों का शारीरिक, बौद्धिक एवं चारित्रिक स्तर कैसा होगा? धातुएँ, इमारतें या हथियार नहीं, किसी राष्ट्र की वास्तविक सम्पदा वहाँ के नागरिक ही होते हैं। वे जैसे भी भले या बुरे होंगे, उसी स्तर का समाज, शासन एवं वातावरण बनेगा। इसीलिए भावी प्रगति की बात सोचने में हमें सुसन्तति के निर्माण की व्यवस्था जुटाने की बात भी ध्यान में रखनी चाहिए।

घरेलू पशुओं यहाँ तक कि पालतू मुर्गे, चिड़ियों तक के बारे में हमारे प्रयास यह होते हैं कि उनकी सन्तानें उत्कृष्ट स्तर की हों। जिन्हें इस उद्देश्य को पूरा करने में बाधक, दुर्बल अथवा अयोग्य समझते हैं उनका प्रजनन प्रतिबन्धित कर देते हैं। इस [illegible] प्रोत्साहन में उचित वंशवृद्धि की बात ही सामने रखी जाती है। क्या मानव प्राणी की नस्लें ऐसे ही अन्धाधुन्ध बढ़ने दी जानी चाहिए, जैसी कि इन दिनों बढ़ रही हैं? क्या इस सम्बन्ध में कुछ [illegible]

करना या सोचना-विचारना समाज का कर्तव्य नहीं है ? क्या बच्चे मात्र माता-पिता की ही सम्पत्ति है ? क्या उनका स्तर समाज को प्रभावित नहीं करता ? इन बातों पर यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि किसी राष्ट्र या समाज का भविष्य उसकी भावी पीढ़ियों पर निर्भर है। यदि सुयोग्य नागरिकों की जरूरत हो तो भोजन, चिकित्सा अथवा शिक्षा का प्रबन्ध भर कर देने से काम नहीं चलेगा। इस सुधार का क्रम सुयोग्य जनक–जननी द्वारा सुविकसित सन्तान उत्पन्न करने का उत्तरदायित्व निबाहने से होगा। यह तैयारी विवाह के दिन से ही आरम्भ हो जाती है। यदि पति-पत्नी की शारीरिक, मानसिक और आर्थिक स्थिति सुयोग्य सन्तान के उत्पादन तथा भरण-पोषण के उपयुक्त नहीं है तो उनके द्वारा की जाने वाली वंशवृद्धि अवांछनीय स्तर की ही बनेगी और उसका दुष्परिणाम समस्त समाज को भुगतना पड़ेगा।

वंशानुक्रम विज्ञान की चर्चा इन दिनों जोरों पर है। जनन रस में पाये जाने वाले गुण-सूत्रों को भावी पीढ़ियों के निर्माण का सारा श्रेय दिया जा रहा है। इन जीव कणों में हेर-फेर करके ऐसे उपाय ढूँढ़े जा रहे हैं जिनके आधार पर मन चाहे आकार-प्रकार की सन्तानों को जन्म दिया जा सके। इस अत्युत्साह में अभी तक आंशिक सफलता ही मिली है। क्योंकि गुण सूत्रों ने आकृति तक में अभीष्ट परिवर्तन प्रस्तुत नहीं किया फिर प्रकृति के परिवर्तन की तो बात ही क्या की जाय ?

प्रयोगशालाओं में ऐसी विधि-व्यवस्था सोची जा रही है जिससे अभीष्ट स्तर की सन्तान पैदा की जा सके। इस दिशा में जी तोड़ प्रयत्न हो रहे हैं और सोचा जा रहा है कि बिना माता का स्तर सुधारे अथवा बिना वातावरण की चिन्ता किये वैज्ञानिक विधा के के आधार पर सुनिश्चित उत्पादन की व्यवस्था यान्त्रिक क्रिया-कलाप द्वारा सम्पन्न करली जायगी।

रासायनिक संयोग में हेर-फेर करके कोशाओं के स्तर में परिवर्तन करके मनुष्य का वर्तमान स्तर बदला जा सकेगा ऐसा पिछले बहुत दिनों से सोचा जा रहा है। इस सन्दर्भ में गुण सूत्रों और जीन्स की खोज खबर ली जा रही थी अब एक नये चरण में विज्ञान ने प्रवेश किया है और माना है कि यदि कोशाओं के स्तर में कुछ परिवर्तन करना हो तो वह रासायनिक हेर-फेर से नहीं विद्यमान विद्युत प्रवाह में ही कुछ उलट-पुलट करके सम्भव हो सकेगा। अब रसायन मुख्य नहीं रहे—उनका स्थान विद्युत ने ले लिया है।

यह समझा जाता रहा है कि पिता के शुक्राणु लगभग वैसी आकृति के होते हैं जैसे कि पानी के पूँछदार कीड़े दिखाई पड़ते हैं। वर्गीकरण की दृष्टि से उनके दो भाग किये जा सकते हैं एक सिर दूसरा पूँछ। शुक्राणु का नाभिक शिर भाग में होता है, पूँछ उसके चलने, दौड़ने में गति प्रदान करती है। पूँछ अक्सर हिलती रहती है जिससे शुक्र कीट आगे बढ़ता है और निषेचन के समय डिम्ब अणु के साथ जाकर मिल जाता है। यह एकाकार होने की स्थिति ही गर्भ धारण है। एक नया प्राणी इस सुयोग संयोग से उत्पन्न होता है।

शुक्राणु और डिम्बाणु की उपरोक्त व्याख्या स्थूल है। उनके भीतर भी बहुत बारीक कण होते हैं। क्रोमोसोम—उनमें भी सूक्ष्म जीन्स को प्रजनन शक्ति का उत्तरदायी कहा जा सकता है। जीन्स में भी प्रोटीन की कुछ मात्रा और डी० एन० ए० (डी० ऑक्सी राइबो न्यूक्लिक एसिड) नामक पदार्थ रहता है। इसी अंश में वंश परम्परा की शारीरिक और मानसिक विशेषताएँ समाविष्ट रहती हैं। ये विशेषताएँ केवल माता-पिता की ही नहीं वरन उनसे भी पूर्व की मातृ पक्ष और पितृ पक्ष की पीढ़ी-दर-पीढ़ी से जुड़ी हुई चली आती हैं। उनमें भी संयोग-वियोग के आधार पर कुछ परिवर्तन और कुछ समन्वयात्मक विशेषताएँ उभरती रहती हैं। इसी प्रकार

पृथन के कारण सभी भाई-बहिन एक जैसे आकार प्रकार के नहीं बन पाते यद्यपि उनमें बहुत-सी विशेषताएँ एक जैसी भी बनी रहती हैं।

'दि ब्रेव न्यू वर्ल्ड' नामक ग्रन्थ में जीव विज्ञानी एल्डस हक्सले ने डिम्ब और शुक्र कीटों के क्रिया-कलाप का मात्र रासायनिक संयोग नहीं माना है वे उन्हें 'अल्फा' 'बीटा' और 'गामा' किरणों का उत्पादन मानते हैं।

पूर्वजों के जीन्स अपने साथ जिन विशेषताओं को लपेटे चलते हैं उनमें बहुत सी अच्छी होती हैं और बहुत सी बुरीं। परम्परागत बीमारियों का लिपटा हुआ कुचक्र परिधान निश्चित रूप से बुरा है।

अफ्रीका महाद्वीप के कांगो देश में तीन चार फुट ऊँचे बौनों की बड़ी संख्या है वे शिकार पर निर्वाह करते हैं और आदिवासी यायावरों की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान में अपने डेरे डालते रहते हैं। पेरु के जङ्गलों में यूग जाति के ऐसे आदिवासी पाये गये हैं जिनकी ऊँचाई तीन फुट से अधिक ऊँची नहीं बढ़ती वरन् कुछ नीची ही रह जाती है। माल्योनेटों के रोम कैथलिक चर्च द्वारा प्रकाशित 'रीजन फ्राम दी जङ्गल' पुस्तक में इन बौनी जातियों की वंश परम्परा पर अधिक प्रकाश डाला गया है। इन 'यूग' जाति के बौनों की अधिक संख्या ब्राजील, बोलीविया तथा बपूरा नदी के तट पर पाई जाती है। यह लोग २० कबीलों में बँटे हुए हैं।

बंगलौर में बी. एन. थिम्मया नामक एक नाई के घर ऐसा बालक जन्मा था जो जन्म के समय तो केवल ५·१४ पौण्ड का था पर कुछ दिन बाद तेजी से उसका शरीर फैलने फूलने लगा। ११ वर्ष की उम्र पर पहुँचने तक वह १६२ पौण्ड भारी और ५० इन्च ऊँचा हो गया। इतना ही नहीं उसकी छाती ४६ इन्च की हो गई। लगभग फुटबाल जैसा गोल-मटोल वह दिखाई पड़ने लगा। बढ़ोतरी इस तेजी से हुई कि हर महीने पुराने कपड़े रद्द करना और नये बनवाना

उस गरीब आदमी के लिए अत्यन्त कठिन हो गया। अच्छा इतना ही रहा कि खुराक साधारण स्तर के बालकों जितनी ही बनी रही।

न्यूयार्क विश्व-विद्यालय के तत्वावधान में बफेलो नगर की प्रयोगशाला ने इस असम्भव समझे जाने वाले कार्य को सम्भव करके दिखाया है। विश्व-विद्यालय के अनुसंधान सम्बन्धी अध्यक्ष डा० रेमण्ड इवेल तथा जीव विज्ञान केन्द्र के निर्देशक जेम्स डेनियली द्वारा इस शोध निष्कर्ष की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वंश परम्परा से चली आ रही आकृति-प्रकृति तथा शारीरिक, मानसिक स्थिति में अब आमूल-चूल परिवर्तन कर सकना सम्भव हो सकेगा। वंश परम्परा की बीमारियों पर काबू प्राप्त किया जा सकेगा। सूक्ष्म कोषों की शल्य क्रिया करना उनमें दूसरे कोषों के आंशिक पैबन्द लगा सकना सम्भव होने से यह भी शक्य हो जायगा कि इच्छानुसार विशिष्टताओं वाले बच्चे पैदा किया जा सकें। सन् १९६७ का नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने वाले विज्ञानी डा० आर्थर कार्नबर्ग ने कैलीफोर्निया के स्टेन फोर्ड विश्व-विद्यालय में जीवकोषों का प्राण 'डी. एन. ए.' खोजा था। अब उस खोज ने इतनी प्रगति कर ली है कि जीव कोषों की स्थिति में इच्छानुसार एवं आवश्यकतानुसार हेर बदल किया जा सके।

न केवल वंश परम्परा की दृष्टि से वरन् मनुष्य की निरोग पुष्टि, बलवृद्धि तथा दीर्घजीवन की दृष्टि से उन कोशा रचनाओं की स्थिति में सुधार परिवर्तन अपेक्षित है। यह कार्य व्यायाम के आधार पर अथवा आहार-विहार के मोटे परिवर्तनों से भी सम्भव नहीं हो सकता। मनुष्य का शरीर भवन जिन ईंटों से चुना गया है उन्हें कोशा या सैल कहते हैं। इन्हीं के बनने-बिगड़ने का क्रम हमें जीवित और स्वस्थ रखता है और रुग्ण, दुर्बल बनाते हुए मृत्यु के मुख में धकेल देता है।

● नित्य निरन्तर कायाकल्प

सामान्यतया यह कोशाएँ टूट कर बँटती रहती हैं और नई कोशाओं को जन्म देती रहती हैं। चमड़ी की कोशाएँ प्रायः ४-५ दिन में पुरानी से बदल कर नई हो जाती हैं जिस प्रकार साँप अपनी केंचुली बदलता है, उसी प्रकार हम भी अपनी चमड़ी हर चौथे पाँचवे दिन बदल देते हैं। यों यह बात आश्चर्य जैसी लगती है, पर वस्तुतः होता यही रहता है। जिन्दगी भर में हमें हजारों बार चमड़ी की केंचुली बदलनी पड़ती है। यही हाल शरीर के भीतर काम करने वाले प्रमुख रसायन प्रोटीन का है। वह भी प्रायः ८० दिन में पूरी तरह बदल कर नया आ जाता है। यह परिवर्तन अपनी पूर्वज कोशाओं के अनुरूप ही होता है अस्तु अन्तर न पड़ने से यह प्रतीत नहीं होता कि पुरानी के चले जाने और नई के स्थानापन्न होने जैसा कुछ परिवर्तन हुआ है।

इस परिवर्तन क्रम को चलाने की सीमा हर अवयव की अलग-अलग है। किसी अवयव का काया-कल्प जल्दी-जल्दी होता है किसी का देर-देर में। इसी प्रकार उनके काम करने की—सक्षम रहने की अवधि भी भिन्न-भिन्न है। डा० केनिथ रासेल की पर्यवेक्षण रिपोर्ट के अनुसार मनुष्य के गुर्दे २०० वर्ष तक, हृदय ३०० वर्ष तक, चमड़ी १००० वर्ष तक, फेंफड़े १५०० वर्ष तक और हड्डियाँ ४००० वर्ष तक जीवित रह सकने योग्य मसाले से बनी हैं। यदि उन्हें सम्भाल कर रखा जाय तो वे इतने समय तक अपना अस्तित्व भली प्रकार बनाये रह सकती हैं। इनके जल्दी खराब होने का कारण यह ही है—उनसे लगातार काम लिया जाना और बीच-बीच में मरम्मत का अवसर न मिलना। यदि इसकी व्यवस्था बन पड़े तो निश्चित रूप से मनुष्य की वर्तमान जीवन अवधि में कई गुनी वृद्धि हो सकती है।

न्यूयार्क युनिवर्सिटी के डा० मिलन कोपेक और [illegible] इन्स्टीट्यूट के डा० ऐलोक्सिस कैरलन द्वारा किये गये प्रयोगों से यह ही निष्कर्ष निकला है कि कोशाएं जब तक अपनी वंश वृद्धि करने में सक्षम रहती हैं तब तक बुढ़ापा किसी प्रकार छाने नहीं पाता, पर जैसे-जैसे वे नई पौध उगाने की क्रिया शिथिल करती हैं वैसे ही वैसे अवयव कठोर और निष्क्रिय होते चले जाते हैं और अन्ततः मृत्यु के मुख में जा घुसते हैं। यदि इन कोशाओं की क्षमता घटने न दी जाए और उन्हें उत्पादन की अपनी स्वाभाविक संरचना अवधि तक क्रियाशील रहने का उपाय ढूँढ़ निकाला जाय तो शरीर को अमर न सही उसे दीर्घायुषी तो बनाया ही जा सकता है।

क्रमिक गति से—स्थूल से सूक्ष्म के क्षेत्र में प्रवेश करता हुआ विज्ञान अब रासायनिक पदार्थों की परिधि लांघ कर उस [illegible] पर जा पहुँचा है जहाँ शक्ति शक्ति का ही साम्राज्य शेष रह जाता है। शरीर एवं मन के प्रयोजनों में लगी इस धारा को विज्ञान ने मानवी विद्युत नाम दिया है।

वैज्ञानिक भी इसी मानवी विद्युत के प्रयोग द्वारा भावी पीढ़ी को सुविकसित बनाने और उसका स्तर सुधारने के लिए प्रयत्नशील हैं। मानवी काया के निर्माण में मौलिक भूमिका निभाने वाले जनन-रस में पाये जाने वाले गुण-सूत्र में एक [illegible] है। दूसरा अव्यक्त रूप है—[illegible]। इसके भाग को [illegible] से प्रभावित किया जा सकता है और उस सीमा तक अच्छे या बुरे प्रभाव सन्तान में उत्पन्न किये जा सकते हैं। पर [illegible] को केवल जीव की निजी इच्छा-शक्ति ही प्रभावित कर सकती है। महत्वपूर्ण परिवर्तन इस चेतनात्मक परिधि में ही हो सकते हैं जिसके लिए रासायनिक अथवा [illegible] साधनों से काम नहीं चल सकता। इसके लिए विद्युत को बदलने वाली अन्तःस्फुरणा अथवा [illegible] परिस्थितियाँ होनी चाहिए। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह

सोचा जाने लगा है कि माता-पिता का स्तर सुधारे बिना सुसन्तति की समस्या प्रयोगशालाओं द्वारा हल न हो सकेगी। वनस्पति अथवा पशुओं में सुधार उत्पादन सरल है, पर मनुष्यों में पाये जाने वाले चिन्तन तत्व में उत्कृष्टता भरने की आवश्यकता यान्त्रिक पद्धति कदाचित ही पूरी कर सकेगी।

'गुण-सूत्रों में हेर-फेर करके तत्काल जिस नई पीढ़ी का स्वप्न इन दिनों देखा जा रहा है, उसे म्यूटेशन-आकस्मिक परिवर्तन प्रक्रिया कहा जा सकता है। म्यूटेशन के सन्दर्भ में पिछले दिनों पैवलव, मैकडुगल, मारगन, मुलर, प्रभृति जीव विज्ञानियों ने अनेक माध्यमों और उपकरणों, से विविध प्रयोग किये हैं। जनन रस को प्रभावित करने के लिए उनने विद्युतीय और रासायनिक उपाय अपनाये। सोचा यह गया था कि उससे अभीष्ट शारीरिक और मानसिक क्षमता सम्पन्न पीढ़ियाँ उत्पन्न होंगी, पर उनसे मात्र शरीर की ही दृष्टि से थोड़ा हेर-फेर हुआ। विशेषतया बिगाड़ प्रयोजन में ही सफलता अधिक मिली, सुधार की गति अति मन्द रही। गुणों में पूर्वजों की अपेक्षा कोई अतिरिक्त सम्भव न हो सका।

एक जाति के जीवों में दूसरे जाति के जीवों की कलमें लगाई गई और वर्णशङ्कर सन्तानें उत्पन्न की गईं। यह प्रयोग उसी जीवधारी तक अपना प्रभाव दिखाने में सफल हुए। अधिक से अधिक एक पीढ़ी कुछ बदली-बदली सी जन्मी इनके बाद वह क्रम सामप्त हो गया। घोड़ी और गधे के संयोग से उत्पन्न होने वाले खच्चर अगली पीढ़ियों को जन्म देने में असमर्थ रहते हैं।

वर्णशङ्कर सन्तान उत्पन्न करके पूर्वजों की अपेक्षा अधिक सक्षम और समर्थ पीढ़ियाँ उपजाने का उत्साह अब क्रमशः घटता चला जा रहा है। इस सन्दर्भ में प्रथम आवश्यकता तो यही रहती है कि प्रकृति एक ही जाति के जीवों में संकरण स्वीकार करती है। मात्र उपजातियों से ही प्रत्यारोपण सफल हो सकता है। यदि शरीर

रचना में विशेष अन्तर होगा तो संकरण प्रयोगों में [illegible] मिलेगी, दूसरी बात यह है कि काया की दृष्टि से थोड़ा सुधार इस प्रक्रिया में हो भी सकता है। गुणों में नहीं। वर्णसंकर गायें थोड़ी तगड़ी तो हुईं, पर अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक दुधारू न बन सकीं। इन प्रयोगों से यह निष्कर्ष निकाला है कि उत्कृष्टता और [illegible] अपने विकास-क्रम के साथ जुड़ी हुई है, यह बाहरी उलट-पुलट से विकसित नहीं की जा सकती।

सुसन्तति के सम्बन्ध में वैज्ञानिक प्रयोग अधिक से अधिक इतना ही कर सकते हैं कि रासायनिक हेर-फेर करके शारीरिक दृष्टि से अपेक्षाकृत थोड़ी मजबूत पीढ़ियाँ तैयार कर दें, पर उनमें मानसिक, बौद्धिक एवं सामाजिक उत्कृष्टता भी होगी इसकी गारण्टी नहीं दी जा सकती। ऐसी दशा में उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकने वाले नागरिकों का सर्वतोमुखी सृजन कहाँ सम्भव होगा?

उस अनुत्साह से अब वंशानुक्रम लगभग [illegible] है और सोचा जा रहा है कि अभिभावकों को ही सुयोग्य बनाने पर ध्यान, दिया जाय। एक ओर अयोग्य व्यक्तियों को सन्तानोत्पादन से रोका जाय, दूसरी ओर सुयोग्य, गुणवान एवं स्वस्थ लोगों को प्रजनन के लिए प्रोत्साहित किया जाय। विवाह निजी मामला न रहे, वरन् सामाजिक नियन्त्रण इस बात पर स्थापित किया जाय कि शारीरिक ही नहीं अन्य दृष्टियों से भी सुयोग्य और समर्थ व्यक्तियों को विवाह बन्धन में बँधने और सन्तानोत्पादन के लिए स्वीकृति दी जाय।

जर्मनी के तीन प्रसिद्ध जीव विज्ञानियों ने वंशानुक्रम विज्ञान पर एक संयुक्त ग्रन्थ प्रकाशित कराया है नाम है—ह्यूमन हेरीडिटी। लेखकों के नाम हैं डा० आरवेन बेवर, डा० अर्जीनिन फिशर और डा० फ्रिट्ज लेन्ज। उन्होंने बालकों के सुधार में [illegible]

विवाह सम्बन्धों के कारण सन्तान पर होने वाले कुप्रभाव को मानवी भविष्य के लिए चिन्ताजनक बताया है। वैज्ञानिकों का संयुक्त मत है कि—'अनियन्त्रित' विवाह प्रथा के कारण पीढ़ियों का स्तर बेतरह गिरता जा रहा है, उनने इस बात को भी दुःखद बताया है कि निम्न वर्ग की सन्तानें बढ़ रही हैं और उच्चस्तर के लोगों की संख्या तथा सन्तानें घटती चली जा रही हैं।

पीढ़ियों में आकस्मिक परिवर्तन म्यूटेशन—के विशेष शोधकर्ता टनियर का निष्कर्ष यह है कि मानसिक दुर्बलता के कारण गुण सूत्रों में ऐसी अशक्तता आती है जिसके कारण पीढ़ियाँ गई-गुजरी बनती हैं। इसके विपरीत मनोबल सम्पन्न व्यक्तियों की आन्तरिक स्फुरणा उनके जनन रस में ऐसा परिवर्तन कर सकती है जिससे तेजस्वी और गुणवान ही नहीं शारीरिक दृष्टि से भी परिपुष्ट संतानें उत्पन्न हों। वंश परम्परा से जुड़े हुए कुष्ट, उपदंश, क्षय, दमा, मधुमेह आदि रोगों की तरह विधेयात्मक पक्ष यह भी है कि मनोबल के आधार पर उत्पन्न चेतनात्मक समर्थता पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़े और उसका सत्परिणाम शरीर, मन अथवा दोनों पर प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो सके। चमत्कारी आनुवंशिक परिवर्तन इसी आधार पर सम्भव हैं मात्र रासायनिक परिवर्तनों के लिए भौतिक प्रयास इस प्रयोजन की पूर्ति नहीं कर सकते। यह तथ्य हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि जिस प्रकार परिवार नियोजन के द्वारा अवांछनीय उत्पादन रोकने का प्रयास किया जाता है उसी प्रकार समर्थ और सुयोग्य सन्तानोत्पादन के लिए आवश्यक ज्ञान, आधार-साधन एवं प्रोत्साहन उपलब्ध कराया जाय।

अनियन्त्रित विवाह व्यवस्था के सम्बन्ध में दूरदर्शी विचारशील व्यक्ति भारी चिन्ता व्यक्त कर रहे हैं और यह सोच रहे हैं कि इस सम्बन्ध में विवेक सम्मत नियन्त्रण व्यवस्था किये बिना काम नहीं चलेगा। हिन्दू समाज में इन दिनों विवाह व्यवस्था जितनी

भोंड़ी क्यों न हो गई हो उन पर समाज का [illegible] अवश्य है। नियन्त्रण का स्वरूप क्या हो, यह अलग प्रश्न है, पर भौतिक समस्या का हल हिन्दू समाज में अभी भी विद्यमान है कि विवाह प्रक्रिया पर समाज का नियन्त्रण होना चाहिए। इस भार[illegible]म्परा की ओर विश्व के विचारशील वर्ग का ध्यान गया है और [illegible] जा रहा है कि विवाह पर सामाजिक नियन्त्रण का अनुसरण [illegible] संसार में किया जाना चाहिए।

बीमा कम्पनियाँ इस बात की पूरी पूछताछ करती हैं कि बीमा कराने वाले के पूर्वज किस आयु में मरे थे क्योंकि [illegible]पण से यही पाया गया है कि पूर्वजों की आयु से मिलती-जुलती अवधि तक ही सामान्यतः उनकी पीढ़ियाँ भी जिया करती हैं। [illegible] रेमण्ड पर्ल ने बहुत शोधों के उपरान्त इस बात पर जोर दिया है कि सन्तान का दीर्घजीवन यदि अभीष्ट हो तो उसका प्रयोग [illegible] जननी को पहले अपने ऊपर से प्रारम्भ करना चाहिए।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक जे० बी० हाल्डेन ने आशा प्रकट की है कि अगले दो सौ वर्षों के भीतर योरोप और अमेरिका में भी [illegible] की तरह वर्ण व्यवस्था स्थापित होगी और विवाहों के [illegible] में उसका विशेष रूप से ध्यान रखा जायगा।

मानव जाति के उज्ज्वल भविष्य का प्रश्न बहुत कुछ सुसन्तति निर्माण की प्रक्रिया पर निर्भर है। इसके [illegible] विचार करना पड़ेगा और [illegible] जोड़े ही विवाह बन्धन में बँधें और [illegible] सन्दर्भ में विवाह पद्धति पर [illegible] जित नियन्त्रण करना चाहिए। [illegible] कुछ और अयोग्य उत्पादन की [illegible] भी कुछ तो करना ही पड़ेगा।



गर्भस्थ शिशु का इच्छानुवर्ती निर्माण

महाभारत में एक कथा आती है कि "एक बार कुपित होकर अश्वत्थामा ने उत्तरा के गर्भस्थ शिशु (परीक्षित) पर आग्नेयास्त्र प्रयोग किया। परीक्षित माँ के उदर में ही असह्य पीड़ा से जलने तपने लगा। माँ ने भी उसे जाना। उन्होंने सम्पूर्ण समर्पण भाव से परमात्मा का स्मरण किया तब उस बच्चे की रक्षा हो पाई।"

गर्भस्थ शिशु को कोई अस्त्र तब तक नहीं छिद सकता जब तक माँ का शरीर न छिदे। दरअसल आग्नेयास्त्र मन्त्र शक्ति थी, जो संकल्प-शक्ति के द्वारा चलाई गई थी। बाहरी शक्ति द्वारा दूर से संकल्प प्रहार से यदि गर्भस्थ बच्चा जल और मर सकता है, और फिर परमेश्वर के प्रति अटल विश्वास और रक्षा की भावना से उस बच्चे को बचाया जा सकता है तो उसके शरीर और मनोभूमि में भी इच्छानुवर्ती परिवर्तन लाया जा सकता है।

रानी मदालसा के बारे में कहा जाता है कि "वह अपने बच्चे के गुण, कर्म और स्वभाव की पूर्व घोषणा कर देती थी फिर उसी प्रकार निरन्तर चिन्तन, क्रिया-कलाप, रहन-सहन आहार-विहार और व्यवहार बना लेती थी, जिससे बच्चा उसी मनोभूमि में ढल

जाता था, जिसमें वह चाहती थीं। इतिहास प्रसिद्ध तथ्य है कि उनके पहले सभी बच्चे ज्ञानी, सन्त और ब्रह्मनिष्ठ होते थे। राजा की प्रार्थना पर उन्होंने अन्तिम गर्भस्थ बच्चे को राज सेवा के अनुरूप ढाला। उसी ने पिता का राज-सिंहासन सम्भाला और कुशल राजनीतिज्ञ हुआ।

आयुर्वेद के विशेष ग्रन्थ सुश्रुत संहिता में भी आता है—"पूर्व पश्ये ऋतुस्नाता या दर्श नर मंगला। तादृशं जनयेत्पुत्रं भर्तारं दर्शये तत।" अर्थात्—ऋतु स्नान के पश्चात् स्त्री जिस प्रथम पुरुष को देखती है: बच्चे का रूप-रङ्ग और मुखाकृति उसी जैसी होती है इसलिये वह सर्व-प्रथम अपने पति का दर्शन करे।

यह सभी तथ्य भावना विज्ञान से सम्बन्धित है इसलिये प्रत्यक्ष न दिखाई देने पर उनकी सत्यता में कोई सन्देह नहीं है। यह बात अब पाश्चात्य देशों के वैज्ञानिक, डाक्टर और दूसरे प्रबुद्ध व्यक्ति भी मानने लगे हैं। डा० फाउलर ने इस सम्बन्ध में काफी खोज की है, गर्भावस्था में भी गर्भिणी के ज्ञान-भाव का बच्चे के शरीर और मन पर कैसा प्रभाव पड़ता है, इस सम्बन्ध में उनके कई प्रमाण हैं।
यह सभी तथ्य सुसंतति के निर्माण हेतु ध्यान में रखे जाना चाहिएं। सुसन्तति के संबन्ध में साधारणतया इतना ही समझा जाता है कि यदि माता-पिता स्वस्थ सुन्दर हों तो उनकी सन्तान वैसी ही स्वस्थ होगी। यदि खान-पान अच्छा मिले—सुविधा शिक्षा की समुचित व्यवस्था हो तो बच्चे विकसित बनेंगे। यह तथ्य बहुत अंश तक ही सीमित है। वस्तुस्थिति कुछ और ही है।

इन बातों के बहुत ही छोटे—छोटी बातों में [illegible] जितने बच्चे गर्भ आते समय ऐसी सूक्ष्मतम परम्पराएं [illegible] जिनका सन्तान के शरीर और मन पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता है। यह परम्परागत प्रभाव कितनी ही पीढ़ियों बाद भी उभर सकता है। माता की कितनी ही पीढ़ियों पहले की कोई आनुवंशिक गुण [illegible]

स्थिति सन्तान में उभर सकती है। इसी प्रकार पिता के पूर्वजों में रही कोई विशेषता भी सन्तान में प्रकट हो सकती है। यह ऐसी विलक्षण भी हो सकती है जिसका माता-पिता की तात्कालिक शारीरिक मानसिक स्थिति से कोई सीधा सम्बन्ध न हो।

माता-पिता की शारीरिक मानसिक स्थिति से भिन्न एवं विपरीत प्रकार के बालकों के जन्मने का कारण ढूँढ़ते हुए जीव विज्ञानी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि रज एवं शुक्र कीटों के भीतर रहने वाले जीवाणुओं की परम्परागत संचित सम्पदा अवसर पाकर फलित प्रकटित होती है और इसी से ऐसी विभिन्नतायें सामने आती रहती हैं। अतएव सन्तान को सुयोग्य सुविकसित देखना हो तो माता-पिता की शारीरिक मानसिक स्थिति को पर्याप्त न मानकर वंश परम्परा की विशेषता पर भी ध्यान देना होगा।

शरीर के जिन विभिन्न उपभागों द्वारा मनुष्य के विभिन्न अंग प्रत्यंग बनते हैं इस प्रक्रिया को अनुशासन में रखने के लिए शरीर में कुछ रासायनिक पदार्थों की आवश्यकता होती है। जिन्हें 'एंजाइम' कहते हैं। इन एंजाइम में वे सम्भावनायें व्यक्त रहती हैं जिसके उत्तर शरीर और मन में समयनुसार अनेकों भली बुरी विशेषतायें उभरती रहती हैं।

प्रजनन के लिए काम आने वाला कोष केन्द्र दो अर्ध घटकों में विभाजित होता है। नारी वर्ग के कोष 'अण्ड' और पुरुष वर्ग के कोष शुक्राणु कहलाते हैं। इन दोनों का मिलन ही मनुष्य के जीवन आरम्भ का श्रीगणेश है।

जीव कोष में ४६ 'क्रोमोसोम' होते हैं। इन्हें तितर-बितर करके पृथक-पृथक पहचाना जा सकता है। इनमें ४४ तो नर नारी में एक जैसे होते हैं इनका कार्य शरीर निर्माण भर होना है। शेष दो नर मादा अलग-अलग होते हैं इन्हें सेक्स क्रोमोसोम कहते हैं। इन्हें वैज्ञानिकों की भाषा में 'एक्स' और 'वाई' कहते हैं। नर में एक

'एक्स' और एक 'वाई' होती है पर मादा में दोनों 'एक्स' होते हैं। बालक बालिका का जन्म होना पूर्णतया नर की स्थिति पर निर्भर है। उसमें यदि 'क्ष' की प्रधानता होगी तो लड़की जन्मेगी। किन्तु यदि 'य' का अस्तित्व है तो लड़का उत्पन्न होगा। इसमें माता का कोई हाथ नहीं, क्योंकि उसमें तो सदा 'क्ष' कोष ही रहता है। कन्याओं की अधिकता में आज जो नारी को दोष दिया जाता है वह सर्वथा गलत है। यह नर पक्ष ही है जिसमें यदि 'क्ष' कणों की प्रमुखता है तो कन्यायें ही कन्यायें होती रहेंगी। हाँ, माता-पिता में से किसी के अणु प्रबल होंगे तो आकृति-प्रकृति में उसकी प्रधानता लिए हुए बालक जन्मेगा।

वर्ण सङ्कर पद्धति को कुछ समय पूर्व अच्छा माना जाता था। भिन्न स्तर के रक्तों के सम्मिश्रण की वकालत इसलिए की जाती थी कि उसका द्रव्य परिणाम अच्छा निकलता है। एक जाति का मिश्रण दूसरी से किया जाय तो शारीरिक परिणाम अच्छा निकलता है। घोड़ी और गधे के सम्मिश्रण से खच्चर उत्पन्न होता है वह घोड़े की तुलना में हलका भले ही पड़े पर गधे से तो निश्चित रूप से मजबूत होता है। [illegible] है। उसकी उन्नति का पथ प्रशस्त होता है। कुछ वनस्पतियों में भी यह प्रयोग किये गये हैं और फसलें उगाने में इसकी सहायता ली गई है। इसलिए पिछले दिनों [illegible] वर्ण सङ्कर [illegible] को प्रोत्साहित किया जाता रहा है।

सन् १८६२ में आस्ट्रिया की एक वैज्ञानिक [illegible] मेंडेल के नेतृत्व में मटर की विभिन्न जातियों [illegible] पैदा करके उनमें अनोखी विशेषतायें पैदा कीं। [illegible] कि पीढ़ियों से चली आ रही [illegible] रहते हैं और [illegible] सम्पन्न सन्तति प्रकाश में आती है। कुछ [illegible]

महत्वपूर्ण संकेत था। इस शोध के अनुसार वे इतना अनुभव सम्पादन कर सके कि वे मिश्रित जाति के पौधों में बदले हुए रङ्ग, आकार, प्रकार, स्वाद, फूल आदि में सम्भावित परिवर्तन की पूर्व घोषणा कर देता और वह अनुमान प्रायः सही हो निकलता। मेंडेल द्वारा स्थापित ये एक शताब्दी से भी अधिक पुराने सिद्धान्त अभी भी इस क्षेत्र में प्रामाणिक माने जाते हैं।

किन्तु यह उत्साह बहुत आगे तक न बढ़ सका। तात्कालिक थोड़ा दृश्यमान लाभ भर ही वर्ण शङ्करत्व का होता है अन्ततः उसके दुष्परिणाम ही निकलते हैं। गधी और घोड़ी से उत्पन्न 'खच्चर' नपुंसक होते हैं, उनकी पीढ़ियाँ आगे नहीं चलतीं। गधी और घोड़े के संयोग से उत्पन्न बच्चे तो माता पिता दोनों की तुलना में गये गुजरे होते हैं।

कलमी वृक्षों पर फल जल्दी, मीठे और बड़े तो जरूर आते हैं पर वे उतने गुणकारी नहीं होते। फिर उन वृक्षों का विकास एवं जीवन तो निश्चित रूप से अपेक्षाकृत स्वल्प होता है। इस प्रकार यह तात्कालिक लाभ अन्ततः घाटे का सौदा ही सिद्ध होता है। इस दृष्टि से जातिगत वर्ण शङ्करत्व की महिमा जो पिछले दिनों बहुत गाई जाती थी, अब धूमिल पड़ गई है और जहाँ तक सुसन्तति का प्रश्न है पूर्वजों की वंश परम्परा को ध्यान में रखने पर बहुत जोर दिया जाने लगा है।

आनुवंशिकी अन्वेषण में शोध कार्य की शृङ्खला में एक के बाद एक उपयोगी कड़ी जुड़ती ही चली गई है। हालेण्ड के वैज्ञानिक ह्यूगोदव्री ने इस दिशा में बहुत कार्य किया। इस दिशा में मेंडल फिशर हाल्डेन, राइट, सटन, मार्गन, हर्मन मूलर, फ्रेडरिक मीशर, लीनस पालिंग, फ्रांसिस क्रिक, वाटसन क्रिक; मार्शल निरेन बर्ग, राबर्ट—हाले, प्रभृति वैज्ञानिकों ने विश्व के विभिन्न देशों में शोध संस्थानों के अन्तर्गत बहुत काम किया। अनेक विश्व विद्यालयों ने इस

अन्वेषण को महत्व दिया, प्रयोगशालायें बनाईं तथा गुण सूत्रों के [illegible] को समझने तथा उनमें हेर-फेर करने की दिशा में [illegible] की। सुविकसित जातियाँ अपनी रक्त शुद्धि पर इसी दृष्टि से जोर दे रही हैं और उनमें अपने ही कुल वर्ग के अन्तर्गत विवाह करने पर जोर दिया जाता रहा है। मिश्र के शासक इसी [illegible] में बहुत कठोर थे। योरोप के राज परिवारों में इस बात पर [illegible] ध्यान दिया जाता रहा है।

हीमोफीलिया, एल्केप्टो नूरिया, [illegible], सगोत्र [illegible] अक्सर सगोत्र विवाहों के कारण होते हैं। जाति और उपजाति के कठोर बन्धनों में बँधी जातियाँ क्रमशः दुर्बल होती चली जाती हैं। ऐसी दशा में उभयपक्षीय संकट उत्पन्न होता है। न वर्ण संकर का समर्थन करते बनता है और न [illegible]। फिर सुसन्तति की [illegible] पीढ़ियों का सुधार सम्वर्धन कैसे किया जाय?

इस सन्दर्भ में शोध [illegible] यह [illegible] है कि [illegible] सूक्ष्म तत्व—गुण सूत्रों का परिष्कृतीकरण किया जाय, [illegible] स्तर पर सुधार सँभाला जाय, उनमें [illegible] के आधार पर संशोधन किया जाय और [illegible] सुविकसित पीढ़ियाँ [illegible] किया [illegible]।

अस्तु यह मार्ग अधिक उपयुक्त है कि गुण सूत्रों [illegible] करके सुसन्तति की प्रक्रिया [illegible] जाय। [illegible] यज्ञ द्वारा सुसन्तति प्राप्त होने का उदाहरण [illegible] है। [illegible] में उसके लिए पति-पत्नी के [illegible] रहा है। कृष्ण और रुक्मिणी द्वारा [illegible] नए प्रयोगों की जानकारी इसी उद्देश्य से [illegible] और [illegible] वांछित सन्तान प्रद्युम्न के रूप में प्राप्त हुई।

वंश परम्परा की महत्ता [illegible] आनुवंशिकी विज्ञान के [illegible]

उद्घाटन किये हैं। जिनके आधार पर यह सम्भावना स्पष्ट हो गयी है कि अभीष्ट विशेषताओं से सम्पन्न मनुष्य का निर्माण सम्भव है। पैतृक दोष प्रवाह को हटाया भी जा सकता है और ये नर-नारी-गुणों की केवल विशेषताओं में ही विकसित हो सकती है। और विकृतियां क्रमशः समाप्त की जा सकती हैं यह उपलब्धियां भावी मनुष्य विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। आशा की जानी चाहिए कि यदि यह प्रयास आगे बढ़ते रहे तो समुन्नत वर्ग का मनुष्य निर्माण कर सकना स्वप्न न रह कर एक तथ्य बन जायगा।

जेनेटिक्स (आनुवंशिकी) के विशेषज्ञ पियरेलुई और लेमार्क इस बात से सहमत हैं कि इस विज्ञान की सहायता से मानवी पीढ़ियाँ क्रमशः अधिक सुविकसित बनाई जा सकेंगी और वह दिन आयगा जब इस धरती पर 'सुपरमैन' (देव मानव) ही प्रधान रूप से पाये जायेंगे। पर दो नोबेल पुरस्कार विजेता जैक मोनो और प्रो० निकोलाय दुबिनिन इस सम्बन्ध में बहुत संदिग्ध है। वे कहते हैं वंश परम्परागत अवरोध इतने अधिक और इतने जटिल हैं कि उन सबका सुधार परिष्कार कर सुपरमैन पीढ़ी का निर्माण तो अभी आकाश कुसुम ही कहा जा सकता है।

कृत्रिम 'जीन' का निर्माण एक बड़ी दार्शनिक गुत्थी उत्पन्न करता है या सुलझाता है अब तक जड़ चेतन का भेद इस आधार पर किया जाता रहा है कि जड़ वे हैं जिनमें चेतना नहीं। अब हर जड़ को चेतन मानना पड़ेगा या हर चेतन को जड़। शरीर और आत्मा के सन्दर्भ में आत्मवादी दर्शन यह परिभाषा करता रहा है कि शरीर जड़ है और आत्मा चेतन, पर अब कृत्रिम जीन का निर्माण यह सिद्ध करता है कि जड़ को विकसित करके चेतन की स्थिति में पहुँचाया जा सकता है। मूलतः हर जड़ में चेतना विद्यमान है। इस प्रतिपादन से वेदान्त की अद्वैत मान्यता की पुष्टि भी होती है जिसके

अनुसार इस जगत् को ब्रह्ममय बताया गया है और किसी जड़ के अस्तित्व से ही इनकार किया गया है।

अध्यात्म विद्या इस प्रकार के सफल निष्कर्ष बहुत पहले से निकाल चुकी है कि तप साधना से पति-पत्नी के शरीरों में विद्यमान गुणसूत्र परिष्कृत किये जा सकते हैं। पीढ़ियों से चली आ रही विकृतियों का निराकरण किया जा सकता है और साधना पूँजी से सुसम्पन्न व्यक्ति यदि ब्रह्मचर्य पालन की तरह ही सुसंतति उत्पादन का प्रयोजन सामने रखे तो निस्सन्देह ऋषि परम्परा की पीढ़ियों का सृजन हो सकता है और आनुवांशिकी विज्ञान जिस महामानव के आदि पूर्वज को विनिर्मित करने में संलग्न है वह प्रयोजन पूरा किया जा सकता है।

भावनाओं का भावी सन्तति पर प्रभाव

अध्यात्म विद्या मूलतः भावनाओं के परिष्कार पूर्वक आत्मा को परमात्मा से, जीव को ब्रह्म से जोड़ने का कार्य करती है। भावनाओं का प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर अनिवार्य रूप से पड़ता है, यह तो अब विज्ञान भी मानने लगा है। आरम्भ में जिन डा० फाउलर का उल्लेख किया गया है उन्होंने इस दिशा में काफी वैज्ञानिक अनुसंधान किया है। एक प्रत्यक्षदर्शी घटना का वर्णन करते हुए फाउलर लिखते हैं—"एक स्त्री अपने बच्चे को नींद लाने वाली गोली देकर किसी आवश्यक कार्य से बाहर चली गई। लौटने पर वह बच्चा मरा पाया। स्त्री को इससे बहुत दुःख हुआ और वह शोक-मग्न रहने लगी। उसी अवस्था में उसने दूसरी बार गर्भ धारण किया। पहले बच्चे के प्रति उसका शोक ज्यों का त्यों बना रहा, इसलिये दूसरा बालक रोगी हुआ। दूसरे वर्ष ही उसकी मस्तिष्क रोग से मृत्यु हो गई। अब वह और दुःखी रहने लगी। इस अवस्था में तीसरा पुत्र हुआ, वह हठी, सुस्त और कमजोर हुआ। दाँत निकलते समय उसकी भी मृत्यु हो गई। चौथा पुत्र भी ऐसे ही गया। किन्तु पाँचवीं बार उसकी

परिस्थितियों में सुखद परिवर्तन आये, जिससे उस स्त्री की मानसिक प्रसन्नता बढ़ी। वह पहले की तरह हँसने-खेलने लगी। इस बार जो बच्चा हुआ वह पूर्ण स्वस्थ, निरोग और कुशाग्र बुद्धि का हुआ।"

डा० फाउलर का मत है कि क्रोध, आश्चर्य, घृणा, अहंकार गम्भीरता आदि के अवसर पर माता की नासिका, मुख और आकृति में जैसे परिवर्तन उठाव, गिराव होते हैं, वैसे ही बच्चे की नाक, मुँह, माथे आदि अवयवों की शक्ल भी बनती है। गर्भाधान के बाद स्त्री प्रसन्न नहीं रहती शोक या चिन्ता-ग्रस्त रहती है, तो बालक के मस्तिष्क में पानी की मात्रा बढ़ जाती है। यदि ४ वर्ष के बच्चे के सिर का व्यास बीस इन्च से अधिक हो तो मानना चाहिये कि वह जल-संचय का शिकार हुआ है, उसकी माँ गर्भावस्था में दुःखी रही है।

भय, विक्षेप, अशुभ चिन्तन, उत्तेजना से जिस तरह अङ्गों में भद्दापन, बेडौल और खराब मुखाकृति बनती है, उसी तरह शुभ-सङ्कल्प और प्रसन्नतापूर्ण विचारों से बच्चा स्वस्थ, सुन्दर और चरित्रवान् बनता है। इसीलिये कहा जाता है—"गर्भावस्था में माँ को सत्य भाषण, उत्साह, प्रेम, दया, सुशीलता, सौजन्यता, धर्माचरण और ईश-भक्ति का अनुगमन करना चाहिये। यह बच्चे होनहार और प्रतापी होते है, जबकि क्रोध, ईर्ष्या, भय, उद्विग्नता आदि अधम वृत्तियों के बच्चे भी अधम, उत्पाती और स्वेच्छाचारी होते हैं। गलत खान-पान भी उसमें सम्मिलित है।

इसके अतिरिक्त जो महत्वपूर्ण बातें गर्भस्थ शिशु को प्रभावित करती हैं, उनमें से वातावरण मुख्य है। ध्रुव ऋषि-आश्रम में जन्मे थे। उनकी माँ सुनीति बड़ी नेक स्वभाव और ईश्वर भक्त थीं। ध्रुव के महान् तेजस्वी होने में वातावरण भी मुख्य सहायक था, जबकि उत्तानपाद के दूसरे बेटे में वैसी तेजस्विता न उभर सकी।

एक पाश्चात्य डा० ने वातावरण के प्रभाव का अध्ययन इस

प्रकार किया—"एक बार एक कमरे का फर्श और दीवार सभी नील-पोत कर नीला कर दिया। उस कमरे में श्वेत रंग के खरगोश का एक जोड़ा रखा गया। कुछ समय बाद खरगोश के दो बच्चे हुए, दोनों के बालों में नीले रंग की झलक थी। इससे पता चलता है कि बच्चे के मस्तिष्क में ही नहीं, वातावरण का सूक्ष्म प्रभाव स्थूल अंगों पर भी पड़ता है। गर्भवती का निवास ऐसे स्थान पर होना चाहिये, जहाँ चारुता हो, मोहकता और आकर्षण हो। हरे बगीचों, केले, फलों आदि से घिरे स्थान, देवस्थान और विशेष रूप से सजे-सजाये, साफ-सुथरा स्थान गर्भस्थ बच्चों पर सुन्दर प्रभाव डालते हैं।

स्पेन के किसी अंग्रेज परिवार में एक बार एक स्त्री गर्भवती हुई। गर्भवती जिस कमरे में रहती थी, उसमें अन्य चित्रों के साथ एक इथोपियन जाति के बहादुर का चित्र लगा हुआ था। वह चित्र उस स्त्री को अति प्रिय था। कमरे में वह उस चित्र को बहुत भावना-पूर्वक देखा करती थी। दूसरे काम करते समय भी उसे उस चित्र का स्मरण बना रहता था। अन्त में जब उसे बालक जन्मा तो उसके माता-पिता अंग्रेज होते हुये भी लड़के की आकृति और वर्ण इथो-पियनों जैसा ही था। उस चित्र की मुखाकृति से बिल्कुल मिलता-जुलता, उसी के अनुरूप था। घरों में भगवान् के, महापुरुषों के चित्र लगाये भी इसीलिये जाते हैं कि उनकी आकृतियों से निकलने वाले सूक्ष्म भावना-प्रवाह का लाभ मिलता रहे।

वातावरण के साथ-साथ गर्भिणी के साथ व्यवहार, बर्ताव और बातचीत भी बहुत सौम्य, शिष्ट और उदार होनी चाहिये। क्रोध, मारपीट, धमकाना, डाँटना, दबाकर रखना आदि कुटिलताओं का बच्चे पर बुरा प्रभाव पड़ता है। कई बार इस प्रकार के आचरण बहुत ही दुःखदायी और स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। एक बार एक व्यक्ति ने समुद्री-यात्रा के दौरान किसी बात से अप्रसन्न होकर, अपनी गर्भवती पत्नी को जोर का धक्का मारा। गिरते-गिरते जहाज की

जंजीर हाथ में पड़ गई। उससे वह गिरने से सम्भल गई किन्तु वह व्यक्ति बड़ा क्रूर निकला। उसने छुरे का वार किया, जिससे उस स्त्री की जंजीर पकड़े हुये हाथ की तीन उंगलियां कट गईं, वह स्त्री समुद्र में चली गई।

जहाज के चले जाने पर कुछ मल्लाहों ने उसकी रक्षा की। बाद में उस स्त्री को जो सन्तान हुई वह देखकर सब आश्चर्यचकित रह गये कि उसकी तीन उंगलियां ही नहीं थीं और वह बालक मानसिक दृष्टि से अपूर्ण, क्रोधी तथा शंकाशील स्वभाव का था।

धमाका पैदा करने वाला ऐसा कोई व्यवहार गर्भवती से नहीं करना चाहिये, जिससे मस्तिष्क में तीव्र आघात लगे। इससे बच्चे के शरीर पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है।

बच्चों के मानसिक निर्माण में माता-पिता की घनिष्ठता, प्रगाढ़ प्रेम, परस्पर विश्वास का सबसे सुन्दर प्रभाव पड़ता है। सच बात तो यह है कि माता-पिता का संकल्प बच्चे को उसी प्रकार पकाता है, जिस प्रकार मादा कछुआ पानी में रहकर रेत में रखे अपने अण्डों को पकाती है। दिव्य गुणों का बच्चे में आविर्भाव भी प्रेमपूर्ण भावनाओं से होता है, इसलिये गर्भावस्था में स्त्री-पुरुष को अधिकांश समय साथ-साथ बिताना चाहिये। पवित्र आचरण और प्रगाढ़ मैत्री रखनी चाहिये, ऐसे बच्चे शरीर से ही नहीं मिजाज से भी पूर्ण स्वस्थ होते हैं।

इस उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट होगी। एक अंग्रेज ने किसी ब्राज़ील की लड़की से विवाह किया। लड़की का रंग सांवला था, पर उसमें सौन्दर्य अधिक थी। पति-पत्नी में प्रगाढ़ प्रेम था। पर उन्हें कोई संतान नहीं हुई।

कुछ समय पश्चात् वह स्त्री मर गई। पति को बड़ा दुःख हुआ। कुछ दिन बाद उसने दूसरा विवाह अंग्रेज लड़की से किया। वह गौरवर्ण की थी, पर इस अंग्रेज को अपनी पूर्व पत्नी की याद

वनी रहती थी इसलिये वह अपनी नई पत्नी को भी उसी भाव से देखा करता था। इस स्त्री से एक कन्या उत्पन्न हुई, जो आयोनियन लड़की की तरह साँवली ही नहीं मुखाकृति से भी मिलती-जुलती थी। यह गर्भावस्था में पिता के मस्तिष्क में जमा हुआ पत्नी-प्रेम का संस्कार ही था, जिसके कारण वालिका ने उसका रंग और आकार ग्रहण किया।

इन समस्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि गर्भस्थ शिशुओं का इच्छानुवर्ती निर्माण सम्भव है। अपने रहन-सहन, स्वभाव और संकल्पों को स्वस्थ और सुन्दर वनाकर भावी वच्चों में भी स्वास्थ्य सौन्दर्य सद्गुण, तेजस्विता और मनस्विता का विकास किया जा सकता है। यह वात माता-पिता दोनों को मालूम होनी चाहिये।

विज्ञान द्वारा इस तथ्य का पता तो लगा ही लिया गया है। कि शरीर अरवों कोषाणुओं से वना है, पर उसका आरम्भ एक कोष से होता है, इन टुकड़ों में एक माता का भाग होता है—एक पिता का। यह आरम्भिक जीवन कोष—जैव रसायनों का एक सम्मिश्रण मात्र है। इसके चारों ओर एक खोल चढ़ा रहता है। इस खोल के भीतर जीव द्रव (प्रोटोप्लाजम) के दो भाग हैं। बीच का गहरा भाग कोष केन्द्र (न्यूक्लियस) कहलाता है। उसके चारों ओर एक हल्का शुक्र कीटाणु (साइटोप्लाजम) है।

गुण सूत्रों की विकृतियाँ और रुग्णतायें ही अनगिन कष्ट साध्य और असाध्य रोगों के रूप में उभरती हैं। मामूली बुखार खाँसी आहार-विहार की गड़बड़ी से हो सकते हैं और उन्हें मामूली दवा दारू से अच्छा किया जा सकता है। पर जब बीमारी गहराई में घुसी बैठी होती है—उसकी जड़ कोशिकाओं के अन्तराल में प्रविष्ट हो जाती है तो साधारण रासायनिक पदार्थों की पहुँच वहाँ तक नहीं हो पाती और शुद्ध उत्पादन की तरह रुग्ण उत्पादन भी भीतर ही

भीतर चलता रहता है। बहुत बार तो यह कोशिकागत गुण सूत्रों में बैठी हुई रुग्णता विकृत आकृति एवं प्रकृति बनाने लगती है।

स्वास्थ्य संरक्षण से लेकर दीर्घ जीवन तक के सूत्र इन्हीं कोशिकाओं के उस कक्ष में भरे पड़े हैं जिन्हें 'जीन' कहते हैं। इनकी आश्चर्यजनक क्षमता का एक छोटा-सा प्रमाण तब प्रत्यक्ष देखा जाता है जब ये विकास का लक्ष्य सामने रखकर अपने विस्तार में प्रवृत्त होते हैं।

आश्चर्य तो देखिये भ्रूण कलल आरम्भ करते समय पहली युग्म कोशिका का भार एक औंस के दस लाखवें भाग की बराबर होता है, पर २८५ दिनों में वह भार लगभग सात पौण्ड हो जाता है। जो युवा शरीर में ७० खरब कोशिकाएँ पाई जाती हैं नव जात शिशु में भी वे खरबों की संख्या क्षेत्र में प्रवेश कर चुकी होती हैं। एक से अनेक और लघु से विराट् बनने का यह कैसा अद्भुत उपक्रम है।

कोशिकाओं के प्रमुख तीन भाग होते हैं (१) केन्द्रक (२) जीव—द्रव्य (३) कोशिका भित्ति। कोशिका के भीतर के पदार्थ का बाहर आना या बाहर वाले का भीतर जाना इस भित्ति में होकर ही होता है। यह भित्ति अनुपयुक्त पदार्थों को भीतर जाने में अवरोध का काम करती है। जीव द्रव्य जिसे वैज्ञानिकों की भाषा में साइटोप्लाज्म कहते हैं, कोशिका के कूड़े, बेकार पदार्थ को बाहर निकालने एवं सांस लेने का काम करती है कोशिका द्रव्य के मध्य में एक घना, गाढ़ा पदार्थ होता है जिसे कोशिका नाभिक अथवा केन्द्रक कहते हैं। यह पूरी कोशिका का नियन्त्रण एवं निर्देशन भी करता है। जीवन के समस्त रहस्य इस नाभिक में ही छिपे हैं। इसी के निर्देश पर विभिन्न कोशिकाएँ अपने-अपने समूहों के विभिन्न क्रिया कलापों में संलग्न रहती हैं। आदिकाल से सभी जीवधारियों में यही क्रम चलता है। अमीबा और बैक्टीरिया जैसे निम्न श्रेणी के जीव हों

इसके अपवाद हैं। उनमें विखण्डन से ही नये जीव का निर्माण आरम्भ हो जाता है। नाभिक के दो भाग हुए कि दो जीवों का अस्तित्व तैयार। उनका जन्म, जनन, परिवर्तन और मृत्यु का सिलसिला ऐसे ही चल पड़ता है। साधारणतया दो जनन कोशिकाओं का परस्पर मिलन भी किसी जीव जाति की पीढ़ियाँ बनाने और बढ़ाने का आधार रहता है।

इन कोषों के—जीन्स को—विकसित एवम् परिष्कृत किया जा सकता है। यह प्रयोजन मानव शारीरिक उधेड़ बुन से नहीं वरन् मानसिक ऊर्जा का सम्वेग तीव्र करने से सम्पन्न हो सकता है। पशुओं और पेड़-पौधों में इस स्तर की उलट पुलट भौतिक प्रयोगों से भी एक हद तक सम्भव हो गई है पर मनुष्य की कायिक स्थिति में भी हेर-फेर किया गया है पर प्रकृति की जिसमें स्वस्थता की मूलभूत क्षमता भी सम्मिलित है—प्रबल मनःशक्ति की ही अपेक्षा करती है। यदि मनोबल तीव्र हो तो सङ्कल्प शक्ति एवम् चित्त की एकाग्रता के आधार पर सम्पन्न किये जाने वाले ध्यानयोग जैसे उपायों से कोशिकाओं की अन्तरंग स्थिति में हेर-फेर किया जा सकता है।

एक औसत कोशिका का आकार व्यास एक सेन्टी मीटर का दो हजारवाँ भाग होता है। देखते-देखते इनमें से लाखों मरती और जन्मती रहती हैं। माता और पिता से सिर्फ दो नन्हीं कोशिकाएँ सारे पैतृक गुणों का सार लेकर आपस में मिलती हैं और उसी मिलन के अधार पर एक नये प्राणी का सृजन होता है। ये दो नन्हीं कोशिकाएँ जैव इन्जीनियरिंग के सिद्धान्त पर एक शानदार शरीर बनाने में जुट जाती हैं और सफलता पूर्वक अपना कार्य भ्रूणावस्था में आरम्भ करके प्रजनन स्थिति आने तक बहुत कुछ पूरा कर लेती हैं।

सभी मनुष्यों और मनुष्येत्तर अन्य प्राणियों में जीवन के उद्भव की यही पद्धति है। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध प्रकृति शास्त्री चार्ल्स

डार्विन ने प्राणियों और वनस्पतियों के मूल अस्तित्व के संबंध में विशद अध्ययन कर १९ वीं शताब्दी के तृतीय और चतुर्थ दशक में यह निष्कर्ष निकाला कि विभिन्न जीवों की विभिन्न जातियों तथा उपजातियों में अद्भुत समानतायें हैं।

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध प्रकृतिशास्त्री डार्विन ने प्राणियों और वनस्पतियों के मूल अस्तित्व के सम्बन्ध में दो ग्रन्थों में यह प्रतिपादन किया कि— समस्त जीवधारी एक ही आदि जीव के विकसित और परिवर्तित रूप हैं। परिस्थितियों का सामना करने के लिए जीवों ने अपने आपमें आवश्यक परिवर्तन किये हैं। डार्विन का कथन यही है कि परिस्थितियों का दबाव और प्राणी की जीवित रहने की इच्छा इन दोनों तत्वों का समन्वय ही जीवों की असंख्य आकृतियों प्रकृतियों के उद्भव का मूल कारण है।

जब समस्त जीवधारी एक ही आत्म सत्ता की मात्र शाखायें हैं और उनके बीच एकता की सघन सम्भावनायें विद्यमान हैं तो फिर उनका पुनः विभाजन संयोजन करके क्यों नहीं एक ऐसी नई जाति का सृजन किया जा सकता है जो आज की परिस्थितियों के अनुकूल उपयुक्त हो। वैज्ञानिक इस सम्भावना को स्वीकार करते हैं और इसके अभिनव उत्पादन की सूत्र शृङ्खलायें ढूँढने में तत्परता पूर्वक संलग्न हैं। उनके मत से भावी पीढ़ियाँ शारीरिक और मानसिक दृष्टि से ऐसी विशेषताओं से भरी पूरी बनाई जा सकेंगी जो संसार में शान्ति और प्रगति में सहायक सिद्ध हो सकें।

इस दृष्टि से भी अध्यात्म विद्या के आधार पर सुविकसित नयी पीढ़ी के निर्माण की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

प्रायश्चित्त प्रक्रिया से भागिये मत



रसीली (एक प्रकार उभरी हुई गाँठ की बीमारी) की मरीज एक स्त्री एक बार श्रीमती जे० सी० ट्रस्ट के पास गई और अपने रोग की चिकित्सा के लिए कोई औषधि देने की प्रार्थना करने लगीं। श्रीमती ट्रस्ट अमेरिका की विश्व विख्यात सन्त हैं जिन्होंने धर्म और अध्यात्म को वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न ही नहीं किया, अपितु अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों से सैकड़ों पीड़ित और पतित लोगों का भला भी किया है। उनके प्रवचन और आध्यात्मिक गवेषणायें सुनने के लिए बड़े-बड़े वैज्ञानिक तक पहुँचते थे।

ट्रस्ट ने उस महिला को बहुत ध्यान से देखा और कहने लगीं—आप नहीं समझ सकतीं, पर जिन्हें प्रकाश की गति और अवस्था का ज्ञान होता है वे यदि कोई न भी बताये तो भी, किसी के भी अन्तरङ्ग की बात जान लेते हैं। आप के शरीर में मुझे कुछ काले रंग के अणु दिखाई देते हैं जो इस बात के प्रतीक हैं कि आपके जीवन में कहीं कोई त्रुटि, विकृति या किसी अनैतिक प्रवृत्तियाँ हैं जो आप दूसरों से छिपाती रहती हैं। आप प्रायश्चित्त का साहस कर सकें तो हम विश्वास दिलाते हैं कि आपका यह छोटे से छोटा रोग भी

तथा भविष्य में अवश्यम्भावी कठिन रोगों का निवारण भी उससे हो सकता है।

स्त्री बोली—माता जी ! मैं आपके पास चिकित्सा के लिए आई हूँ उपदेश तो बहुतेरे पादरियों, सन्त और धार्मिक व्यक्तियों से सुन चुकी। औषधि दे सकती हैं, तो दीजिए, अन्यथा हम यहाँ से जायें।

उस महिला की तरह सैकड़ों लोगों के जीवन विकार ग्रस्त होते हैं, मन में दूषित—काम क्रोध, लोभ, मद मत्सर आदि विकार उठते रहते हैं, उनसे प्रेरित जीवन से जो पाप सम्भव हैं उन्हें लोग एक सामान्य ढर्रे की तरह अपना लेते हैं। काम वासना से पीड़ित व्यक्ति किसी भी नारी को देखकर उत्तेजित हो उठता है, क्रोधी व्यक्ति हर किसी को दुश्मन की तरह देखता और वैसा ही व्यवहार करता है लोभी व्यक्ति ही चोरी से लेकर रिश्वत, छल, कपट, और मिलावट तक करते हैं भले ही उससे समाज का कितना ही अहित क्यों न हो ? जब उनसे यह कहा जाता है कि पाप और विकारों का कर्म भोग भोगना पड़ेगा, यह पाप ही आधि-व्याधि, रोग, शोक और बीमारियों के रूप में फूटते हैं इसलिए अभी सुधार करो, अभी प्रायश्चित्त कर पाप के बोझ से मन को हल्का कर लो। तब वह इन विचारों को दकियानूसी सिद्धान्त मानता है

न केवल तर्क संगत रही वरन् विज्ञान सम्मत भी हो गई है।

श्रीमती ट्रस्ट के समझाने से उस महिला पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने अपने जीवन के सारे दोष स्वीकार किये और बताया कि उसे क्रोध बहुत आता है इसी दुर्भाव के कारण वह अनेकों पाप कर चुकी है। उसने कई बार चोरी भी की है और झूठ-मूठ कहकर लोगों को लड़ाया भी। उसने अपने सारे ऐब स्वीकार कर लिये इसके बाद ट्रस्ट के कहने से उसने कुछ दिन तक उपवास किया, उससे उसकी गाँठ भी अच्छी हो गई और मन की अशान्ति भी दूर हो गई। श्रीमती ट्रस्ट ने इसी तरह एक नवजात शिशु के रोग उसकी माँ से प्रायश्चित्त कराकर ठीक किये। उन्होंने ऐसे सैकड़ों व्यक्तियों से निराशन तप कराकर उन्हें शरीर और मन से शुद्ध बनाया वह सब उपरोक्त वैज्ञानिक सत्य का ही प्रतिफल था।

एकबार इंगलैंड के डाक्टरों ने एक प्रयोग किया। एक बन्दर के एड्रिनल में "मेडुलरी भाग" में हल्की-सी विद्युत् करेन्ट प्रवाहित करके देखा कि उससे "एड्रिलीन" हारमोन के स्राव की मात्रा बहुत बढ़ गई उस समय बन्दर की मुख मुद्रा में भयानक क्रोध के लक्षण उभर आये। फिर उन्होंने कुछ तीव्र रसायनों द्वारा उस भाग को "शून्य" कर दिया और तब फिर विद्युत करेन्ट प्रवाहित किया तब "एड्रिलीन" बहुत थोड़ा निकला। बन्दर उस समय कुछ ज्यादा क्रोधित भी नहीं हुआ। इसके साथ एक ऐसे व्यक्ति का परीक्षण किया गया जिसने किसी महिला के पर्स की चोरी करली थी। उस समय वह अत्यन्त भयभीत था कि कहीं पुलिस पकड़ न ले और उसे पीटा न जाये। डाक्टरों ने उसकी जाँच की तो पाया कि उसका सारा केन्द्रीय नाड़ी संस्थान उत्तेजित है और उससे शरीर के पूरे तन्त्र (मेटाबोलिज्म) पर असर पड़ रहा है ऐसे समय शीघ्र असर वाली बीमारियाँ होने की सम्भावना डाक्टरों ने भी स्वीकार की। चिन्ता व शोक की स्थिति में "वैसनस फोलिकल स्टेमुलेटिंग हार्मोन निकलित

फैक्टर" में कमी हो जाने आदि के उदाहरण से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि बुरी भावनायें मनुष्य शरीर पर प्रतिकूल प्रभाव निश्चित रूप से डालती हैं। यही रोग के रूप में उत्पन्न होते हैं इसलिये यदि रोग से स्थायी बचाव करना है तो अपने मनोमय संस्थान को शुद्ध रखना ही पड़ेगा। साथ ही साथ अब तक जो मलिनतायें मन में भर गई हैं उन्हें प्रायश्चित्त द्वारा परिमार्जित करना ही होगा। जब तक मनुष्य इन्हें स्वीकार नहीं करता वह अन्तर्दहन से बच नहीं सकता।

"हारमोन्स क्या हैं" और उनका मनुष्य शरीर से क्या सम्बन्ध है, यह समझने से उक्त तथ्य की गहराई में प्रवेश किया जा सकता है। मनुष्य शरीर में दो प्रकार की ग्रन्थियाँ (ग्लैण्ड्स) होती हैं। ग्रन्थियाँ एक ऐसे कोशों (सेल्स) के समुदाय को कहते हैं जो किसी गाँठ की शक्ल में बदल जाते हैं और जिनसे सतत रासायनिक स्राव निकलता रहता है इस स्राव को ही "हारमोन्स" कहते हैं। एक ग्रन्थियाँ वह होती हैं जिनका सम्बन्ध नलिकाओं द्वारा शरीर से होता है दूसरी नलिका विहीन (डक्टलेस ग्लैण्ड्स) वह होती हैं जिनका सम्बन्ध नलिकाओं से नहीं होता वे स्राव मस्तिष्क की मनःस्थिति के अनुसार निकालती और मनुष्य शरीर पर प्रभाव डालती हैं। यही सर्वाधिक महत्व की हैं। अभी वैज्ञानिक इनके बारे में पूर्णतया नहीं जान पाये। जब जानेंगे तब पूर्व जन्मों के संस्कार, पुनर्जन्म आदि के कितने ही आश्चर्यजनक तथ्य सामने आयेंगे ऐसा अनुमान है। हम नहीं जानते पर अब विज्ञान यह बताने लगा है कि मनुष्य की अपनी बुरी भावनाओं के द्वारा ही अनेक [illegible] हारमोन्स शरीर में अधिक होकर रासायनिक असन्तुलन या विकृति उत्पन्न करते हैं।

भारतीय दर्शन और जीवन पद्धति में अध्यात्म को इसलिए महत्व दिया गया और देह भाव को अहित [illegible] । यह यहाँ की मनीषियों की [illegible] दर्शिता थी। अब शरीर-विज्ञान विशेषज्ञ भी इस [illegible]

उतरने लगे हैं कि वस्तुतः शरीर का सारा संचालन [illegible] देव शक्तियों—ग्रहों-उपग्रहों या सूक्ष्म आकाश भाग से ही होता है। "ओकाल्ट एनाटामी एण्ड दि बाइबिल" पुस्तक में डा० [illegible] हेलिन ने—कोलम्बिया विश्व-विद्यालय के डा० लुहस बर्मन के [illegible] —व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाली ग्रन्थियाँ (ग्लैण्ड्स रेगुलेटिंग परसनैलिटी) के हवाले से बताया है कि मनुष्य के शरीर में कुछ ऐसी ग्रन्थियाँ हैं जो देखने में छोटी होती हैं, पर उनका महत्व असाधारण है। पाचन क्रिया से लेकर मनोवेगों तक का सारा नियन्त्रण [illegible] ग्रन्थियों से ही होता है इन्हें वाहिनी हीन (डक्ट लेस) ग्रन्थियाँ (ग्लैण्ड्स) कहा जाता है अन्तःस्रावी हारमोन्स इन ग्रन्थियों में ही स्रवित होकर शारीरिक उतार-चढ़ाव, घटना-बढ़ना, बुढ़ापा मृत्यु आदि का कारण बनते हैं।

एनाटामी मेडिकल कालेज कर्नेल विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर डा० चार्ल्स आर स्टार्क यार्ड ने इन ग्रन्थियों के आधार पर मनुष्य जीवन की एक नई धारणा प्रस्तुत की है जो भारतीय आध्यात्मिक शोधों से शत-प्रतिशत मेल खाती है। डा० स्टार्ड [illegible] है कि आन्तरिक स्राव वाली ग्रन्थियाँ एक महान् शासक के [illegible] गर्भ धारण से लेकर मृत्यु तक स्त्रियों पुरुषों तथा समस्त [illegible] वाले जीवों तक का नियन्त्रण करती हैं। "फिजियोलाजी" तथा सोशलाजी की मान्यतायें भी अब "[illegible]" के [illegible] और उसके प्रचण्ड प्रभाव को स्वीकार करने [illegible] "[illegible] डेस्टिनी" के लेखक डा० ईवो गैफी काव ने तो यहाँ तक मान लिया है कि अन्तः स्रावी (इन्डोक्राइन ग्लैण्ड्स) ग्रन्थियों पर नियन्त्रण रखने वाले लोगों ने ही इतिहास पर अधिकार [illegible] है और [illegible] को कहाँ से कहाँ बदल दिया है। नैपोलियन बोनापार्ट का उदाहरण देते हुये उन्होंने लिखा है कि यदि वाटरलू के युद्ध के समय नैपोलियन बोनापार्ट की "पिचुट्री ग्लैण्ड" (पीयूष ग्रन्थि) में [illegible]

जाती तो वह हारता नहीं । जो नैपोलिन अत्यन्त दूरदर्शी निर्णय भी तुरन्त ले लेने की क्षमता रखता था उसकी विवेक बुद्धि बुरी तरह लड़खड़ा गई । जिस समय वह एल्वा में निर्वासित था उस समय लेगर्ड ग्रन्थि लड़खड़ा गई । यह सारी बातें तब प्रकाश में आई जब सेंट हेलेना में उसके शव की अन्त्य परीक्षा (पोस्ट मार्टम) की गई । जब तक उसने इन ग्रन्थियों पर नियन्त्रण रखा, जब तक उसकी अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ सशक्त रहीं नैपोलियन सारी दुनिया को जीतता रहा पर जैसे ही वह इन शक्तियों से वंचित हुआ वह नष्ट ही होगया ।

योग साधनायें इन देव-शक्तियों के विकास का ही वैज्ञानिक उपक्रम हैं । आने वाले दिनों में जबकि अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के पदार्थ (मैटर) की खोज होगी और उसकी तुलना ग्रहों के पदार्थ से की जायेगी तो लोग आश्चर्य करेगें कि मनुष्य शरीर में आकाश तत्व किस विलक्षणता के साथ उपस्थिति है और कितने आश्चर्यजनक ढङ्ग से मनुष्य को अपनी इच्छा से बाँधे हुए है ।

"ओकल्ट एनाटामी एण्ड दि बाइबिल" पुस्तक के वैज्ञानिक लेखक ने उस तरह का तुलनात्मक अध्ययन, जिस तरह "कुण्डलिनी तन्त्र" में भारतीय योगियों ने किया है वैसा तो नहीं किया पर उसने माना है कि इन ग्रन्थियों का सम्बन्ध निश्चित रूप से नक्षत्रों (स्टार्स) से है । उन्होंने इन्हें "आन्तर्नक्षत्र" (इन्टीरियर स्टार्स) लिखा है और बताया है कि सूर्य और हर्षग्रह पीनियल ग्लैण्ड से सम्बन्ध रखते हैं इसे तृतीय नेत्र ग्रन्थि भी कहा जाता है उससे भ्रूमध्य में "आज्ञा-चक्र" का ही स्पष्ट प्रमाण मिलता है आज्ञा-चक्र जाग्रत करने वाला "ॐ" ध्वनि सुन सकता है ।
सब तरफ की दूरवर्ती घटनाये देख सुन सकता है । यह सूर्य शक्ति का प्रभाव है । वरुण और चन्द्र का सम्बन्ध, पिचट्री ग्रन्थि' से है । चन्द्रमा के उतार चढ़ाव से मन पर उतार चढ़ाव होता है यह इन दोनों तत्वों की एकता का प्रमाण है । वृहस्पति उपवृक्क (एड्रिनल)

पर, प्रजनन ग्रन्थि (गोनाड्स) पर मङ्गल वृद्ध का ... (थायराइड्स) सूर्य का पैरा थायराइड्स (उपगल ग्रन्थि) से सम्बद्ध है इन ग्रहों के उतार चढ़ाव इन ग्रन्थियों को प्रभावित करते हैं।

● सूक्ष्म अवयवों का विज्ञान

सामान्य शरीर विज्ञान के अनुसार यह जाना—माना जाता है कि देह के इन्जन को चलाने के लिए हृदय, फुफ्फुस, आमाशय, आँतें, जिगर, गुर्दे, वृक्क, मस्तिष्क आदि अङ्गों का ... प्रमुख उत्तरदायित्व वहन करता है। उनकी बनावट और क्रिया-पद्धति शव्दच्छेद आदि द्वारा समझी समझाई जाती है और बीमार पड़ने पर इन्ही में कहीं खराबी कमजोरी तलाश की जाती है। ... की गतिशीलता एवं शुद्धता इन्हीं प्रमुख अङ्गों की स्थिति पर निर्भर रहती है। ज्वर, खाँसी, दस्त, व्रण दर्द, सूजन, शिथिलता, अशक्तता आदि रोगों के वाह्य लक्षण भीतरी अवयवों में विकार आने के फलस्वरूप ही दृष्टिगोचर होते हैं।

विज्ञान के अन्य क्षेत्रों की भाँति शरीर विज्ञान के अन्तराल में जितनी गहराई के साथ प्रवेश किया जाता है, उतने ही अधिक ...हत्वपूर्ण रहस्य प्रकट होते चले जाते हैं प्राचीन काल में ... ...ो सृष्टि का आदि कारण माना जाता था। पर नवीन शोधें पर... ...णु, प्रकाश, चुम्बक, ईथर, गैस, ताप आदि तत्वों के ... ...ो पदार्थ का मूल कारण सिद्ध करती हैं। स्थूल पंच तत्व तो ... ...क्ष्म तत्वों के मिश्रण मात्र हैं। उनका अब कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ...हीं माना जाता।

शरीर विज्ञान में अब हृदय आमाशय आदि को ... ...ादि मानता है। उसके मूल संचालन में दूसरे तत्वों एवं सूक्ष्म ... ...वों का हाथ बताया जाता है। इन्हीं पर हमारे स्वास्थ्य का ... आधार निर्भर रहता है।

सूक्ष्म अवयवों में 'हार्मोन' अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनकी सक्रियता, निष्क्रियता का हमारी शारीरिक और मानसिक स्थिति पर भारी प्रभाव पड़ता है।

शरीर में दो प्रकार की ग्रन्थियाँ हैं। एक प्रकार की ग्रन्थियाँ पसीना आदि मलों के विसर्जन की प्रक्रिया सम्पन्न करती हैं। दूसरी प्रकार की एक रस विशेष का स्राव करती हैं जो रक्त में मिलकर समस्त शरीर को प्रभावित करता है। यह रस विशेष ही हार्मोन है।

शरीर की आकृति कैसी ही हो उसकी प्रकृति के निर्माण में हार्मोन रसों का भारी हस्तक्षेप रहता है। कई बार तो वे मनःस्थिति, स्वभाव, रुचि तक को आश्चर्यजनक रीति से प्रभावित करते हैं। स्वसंचालित नाड़ी संस्थान की गतिशीलता तक में इनकी स्थिति के कारण भारी हेर-फेर उत्पन्न होते हैं। इन हार्मोन रसों को जीवन रस कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

हार्मोन प्रवाहित करने वाली ग्रन्थियाँ तो कितनी ही हैं पर उनमें पाँच मुख्य हैं। यथा—

(१) थाइराइड (चुल्लिका)—यह ग्रन्थि गले की घाटी के पास स्थित है। इसका वजन आधी छटांक से भी कम होता है। इससे निकलने वाले रस को थाइराक्सिन कहते हैं। इसमें ६५ प्रतिशत आयोडीन रहता है। इसके अतिरिक्त हाइड्रोजन, आक्सीजन और नाइट्रोजन आदि भी रहते हैं।

इसका विकास बचपन में ही रुक जाय तो शरीर और मन का पर्याप्त विकास नहीं होता, प्रौढ़ावस्था में विकास रुक जाने पर सुस्ती और स्फूर्ति घट जाती है। शरीर की शिथिलता होने
वृद्धावस्था में विकास रुक जाने पर मनुष्य का शरीर
जाता है और मृत्यु जल्दी ही आ जाती है। इस ग्रन्थि

शन द्वारा देने पर इसका अभाव दूर हो जाता है भेड़ की ग्रन्थि खिलाने पर तो शरीर तेजी से बढ़ने लगता है।

इसी ग्रन्थि पर मनुष्य की कार्यक्षमता निर्भर करती है। यदि यह ग्रन्थि तेजी से काम करने लगे तो कार्यक्षमता में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। इतना ही नहीं तेजी, क्रोध, चिड़चिड़ापन, जल्दबाजी, भागदौड़ की वृत्ति अधिक बढ़ जाती है। यदि यह ठीक अधिक कार्य करें तो मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए उत्तम है। इससे गम्भीरता, मस्ती, कार्य-शीलता, प्रसन्नता प्राप्त होती है।

(२) पिच्यूटरी—यह प्रमुख ग्रन्थि है जो अन्य सभी ग्रन्थियों पर शासन करती है। यह अंगूर की शक्ल की मस्तिष्क के नीचे एक नली से लटकी रहती है। इसकी स्वस्थता पर ही अस्थिपंजर की वृद्धि, शरीर का विकास निर्भर करता है। इसकी विकृति से बौनापन, समय के पूर्व बुढ़ापा, अस्थिपंजर की कमजोरी आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

(३) पीनियल—यह मस्तिष्क के पिछले भाग में स्थित होती है। इसकी तेजी पर अवस्था से पहले कामवासना की तीव्रता और असाधारण प्रतिभा का होना निर्भर करता है।

(४) अड्रीनल्स—गुर्दों के ऊपरी सिरों पर दो ग्रन्थियाँ स्थित होती हैं। इनसे कार्टिन नाम का रस निसृत होता है। इस रस के नष्ट हो जाने पर मृत्यु हो जाती है। इन ग्रन्थियों की बाह्य प्रति-क्रिया के फलस्वरूप पुरुषत्व की वृद्धि होती है। आन्तरिक भाग से भय, क्रोध, चिन्ता आदि का सम्बन्ध इसी ग्रन्थि से होता है। इन ग्रन्थियों पर प्रतिक्रिया होने से रक्तचाप बढ़ जाता है। स्नायुओं में तेजी आ जाती है। भय, क्रोध, उत्तेजना की अवस्था में सामर्थ्य से अधिक काम कर बैठना, ऊँचे से कूद जाना, घातक हमला कर देना, तेजी से दौड़ना इनकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप होता है।

इसका रस एड्रीनलीन इन्जेक्शन से देने पर उत्तेजना पैदा हो जाती है।

(५) गोनेड—यह लिङ्ग सम्बन्धी प्रमुख ग्रन्थि है। इसके ऊपर लिङ्ग सम्बन्धी विकास निर्भर करता है। यदि विपरीत लिङ्गी रस दिया जाय तो वैसी ही प्रतिक्रिया होने लगती है। वैज्ञानिकों ने परीक्षण के तौर पर मुर्गे की गोनेड ग्रन्थि का रस एक मुर्गी के शरीर में छोड़ा। कुछ ही समय बाद मुर्गी ने अण्डे देना बन्द कर दिया। और मुर्गे की तरह बाँग देना शुरू कर दिया। लिङ्ग परिवर्तन के मूल कारण में इस ग्रन्थि का परिवर्तन भी मुख्य होता है। जिन स्त्रियों में यह ग्रन्थि अधिक विकसित होने लगती है उनमें पुरुषत्व के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

इस तरह की शरीर में अनेकों ग्रन्थियाँ होती हैं। किन्तु प्रमुख ग्रन्थियाँ ये ही हैं जिनके आधार पर शरीर की स्थिति निर्भर करती है।

हारमोन स्रावों के सम्बन्ध में विशेष अनुसंधानकर्त्ता डा० कुक शैंक ने इन्हें जादुई रेन्ड कहा है और बताया है कि बाहर की शारीरिक बनावट या स्थिति कैसी ही क्यों न प्रतीत हो, उनकी वास्तविक स्थिति जाननी हो तो इन स्रावों के सन्तुलन और क्रिया-कलाप का परीक्षण करके ही यह जाना जा सकेगा कि मनुष्य का वास्तविक स्तर और व्यक्तित्व क्या है? हारमोन न केवल अङ्ग-प्रत्यङ्गों की समर्थता असमर्थता के आधार हेतु हैं वरन् व्यक्तित्व के निर्माण में भी उनका गहरा हाथ है।

मनः शास्त्री एडलर ने काम प्रवृत्ति की शोध करते हुए बड़े विलक्षण तथ्य प्राप्त किये। बाहर से अत्यधिक सुन्दर, आकर्षक और कमनीयता की मूर्ति दीखते हुए भी कई महिलाओं को उन्होंने काम शक्ति से सर्वथा रहित पाया। न उनमें रमणी प्रवृत्ति थी न नारी सुलभ उमंग। इन्हें दाम्पत्य खोलड़े जैसे दुर्बल काय खिलाड़ी, ग्लामे-

विजउड जैसी बोनी नर्तकी की इन विशेषताओं के रहस्य का आधार उनके हारमोन रसों में सन्निहित पाया गया। कितने ही अधिक आहार मिलने पर भी स्थूल काय देखे जाते हैं और कितनों को मक्खन, मलाई का बाहुल्य रहने पर भी देह पतली ही बनी रहती है। कुछ लोग रोगों के दबाव को इतना सह लेते हैं कि जितने में सामान्यतः मृत्यु हो ही जानी चाहिए। इसके विपरीत कुछ भीतरी खोखलेपन के कारण जरा-सी अस्वस्थता में ही बोल जाते हैं। बौनापन अथवा लम्बा होना इन हारमोन रसों पर निर्भर रहता है।

मनुष्यों की शारीरिक और मानसिक स्थिति में जो आकाश-पाताल जैसा अन्तर पाया जाता है, उसका कारण उनका आहार विहार, संस्कार वातावरण, शिक्षण, सङ्कल्प भी हो सकता है। पर अनजाने और अनचाहे प्रवाह में मनुष्य को कहीं से कहीं बहा ले जाने और कुछ से कुछ बना देने का श्रेय इस जीवन को न उमंग थी न क्षमता। इसी प्रकार उन्होंने कितने ही युवकों को देखा, जिनकी शारीरिक स्थिति मर्दानगी और वैवाहिक जीवन की आवश्यकता प्रतिपादित करती थी पर वे वस्तुतः नपुंसक थे। न उनके मन में उमंग थी न जननेन्द्रिय में उत्तेजना। इसका कारण तलाश करने पर काम तत्व को प्रभावित करने वाले हारमोन रस का ही अभाव पाया गया। इसके विपरीत उन्हें ऐसे नर-नारी भी मिले जो अल्प वयस्क एवं वयोवृद्ध होते हुए भी काम पीड़ित रहते थे। शरीर से रुग्ण रहने पर भी कितने ही व्यक्ति ऐसे पाये गये जो अतिशय कामसेवन में प्रवृत्त थे। इसके बिना उन्हें असह्य, बेचैनी अनुभव होती थी। इस विचित्र असन्तुलन का कारण उन्हें हारमोन ग्रन्थियों के स्राव में अवांछनीय हेर-फेर होना ही प्रतीत हुआ।

बीथोवन जैसे बहरे प्रखर सङ्गीतज्ञ, सौभाग्य गीत जैसे ... माने वाले धुरन्धर वक्ता, डेनियल बोर्न जैसे मन्द दृष्टि ...

विशेष रस स्राव की मात्रा पर ही निर्भर हैं। नर से नारी और नारी से नर बनने के जो कितने ही उदाहरण सामने आये हैं, इन लिङ्ग परिवर्तन की स्थिति हारमोन की गतिशीलता में मोड़ आ जाने के कारण ही, बनी बताई गई है।

स्वसंचालित नाड़ी संस्थान की सक्रियता मनुष्य के नियन्त्रण से बाहर बताई जाती है। अचेतन मस्तिष्क के क्रिया-कलापों को जीवन कोषों के परम्परागत विकास क्रम से संचालित बताया जाता है। यह भी मानवी प्रयत्नों से अप्रभावित संस्थान समझा जाता है। हारमोन रसों के बारे में भी ऐसी ही मान्यता है कि उनकी न्यूना-धिकता को घटाया बढ़ाया जाना कठिन है। प्राणिज हारमोन निकाल कर उनके इन्जेक्शनों द्वारा उस कमीवेशी को संतुलित करने का प्रयत्न किया जा रहा है पर वह उधार का अनुदान क्षणिक लाभ देकर समाप्त हो जाता है। अपने निज के हारमोन स्राव उत्तेजित या शिथिल करने में स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने वाले उपचारों में अभी चिकित्सा विज्ञान को यत्किंचित ही सफलता मिली है। हारमोन स्राव इतने महत्वपूर्ण किन्तु इतने अनियन्त्रित होने के कारण मनुष्य के लिए अभी भी एक पहेली बने हुए हैं।

सूक्ष्म विज्ञान वहाँ से आरम्भ होता है, जहाँ स्थूल की समाप्ति होती है। भौतिक प्रयत्न जहाँ तक काम दे सकें उसी को भौतिक क्षेत्र माना जाता है। इससे आगे की परिधि को समाप्त समझ लेना उचित नहीं। आधि भौतिक से आगे भी दो विशाल काय क्षेत्र पड़े हैं आध्यात्मिक और आधि दैविक। इन क्षेत्रों में संव्याप्त विज्ञान—आधि भौतिक क्षेत्र में उपलब्ध सामर्थ्य एवं सफलता से किसी भी प्रकार कम नहीं है।

हारमोन स्राव सर्वथा स्वेच्छाचारी हैं, उन पर मानव चेतना का कोई अधिकार नहीं, यह मान बैठना ठीक नहीं। औषधि चिकित्सा और शल्य क्रिया की सम्भवतः वहाँ तक पहुँच नहीं, पर यह समझा

जाना चाहिए कि शरीर के क्षेत्र में चल रही गतिविधियों पर शरीरगत आत्मा का कोई नियन्त्रण हस्तक्षेप नहीं। आत्मिक शक्ति द्वारा कर हृदय जैसे यन्त्र को रोक देना और फिर इच्छानुसार संचालित कर देना योग विद्या द्वारा सम्भव हो गया है। इसे वैज्ञानिक परीक्षणों में प्रमाणित किया जा चुका है। स्वसंचालित नाड़ी संस्थान को मन्द, बन्द या तीव्र करने में प्राचीन काल के योगाभ्यासी जो निष्णात थे ही अब भी सिद्धान्त प्रतिपादन की दृष्टि से उसे प्रमाणित किया जा चुका है। हर हारमोन रसों में ही क्या अनोखापन है जो आत्मबल के प्रहार से उन्हें घटाया बढ़ाया जाना सम्भव न हो सके।

शरीर पर सर्वतोभावेन नियंत्रण शासन संचालन करने की क्षमता जब मनुष्य योगाभ्यास द्वारा प्राप्त कर लेगा तब हारमोन रसों जैसे अद्‌भुत स्रावों का सदुपयोग करके व्यक्तित्व को इच्छानुसार ढालना, बदलना, सुधारना सम्भव हो जायगा। योग और अध्यात्म-विद्या के माध्यम से व्यक्तित्व में इन्हीं चीजों का आरोपण किया जाता है। आत्म साधना का विज्ञान व्यक्तित्व के विकास में बाधा पहुँचाने वाले कारणों, कषाय-कल्मषों और पिछले जन्मों के संस्कारों को दूर कर व्यक्तित्व को विकास की दिशा में अग्रसर करता है। इसके लिए अपने पिछले कर्मों का दंड भुगतने और प्रायश्चित्त प्रक्रिया से गुजरने के लिए हर घड़ी हर पल तैयार रहना चाहिए।



सद्गुरु हमारे ही काय-कलेवर में

राजा बृहद्रथ को एक बार शरीर की अनित्यता का ज्ञान होने पर वैराग्य हो गया। आत्म-साक्षात्कार के लिये उनके अन्तःकरण में व्याकुलता उत्पन्न हो उठी। पूछने पर गुरु ने समझाया, तात! आत्म-साक्षात्कार के लिये तपश्चर्या आवश्यक है, पर तप का भी एक विज्ञान है और जो उसे जानता है, उसी के मार्ग-दर्शन व संरक्षण में किया हुआ तप ही सार्थक होता है। चाहे जप, चाहे जो, क्रिया तप नहीं कहलाती वरन् एक क्रमबद्ध साधना पद्धति द्वारा आत्मा के ऊपर चढ़े हुये मलावरण को परिमार्जित करना पड़ता है। आप आत्म-वेत्ता महामुनि शाकायन्य के पास जायें वही आपको आत्म-ज्ञान की दीक्षा देने में समर्थ हैं।

इक्ष्वाकुवंशी बृहद्रथ महामुनि शाकायन्य के पास जाकर बोले— भगवन् ! "[illegible]" मुझे आत्मा के दर्शनों की अभिलाषा है, सो आप मुझे आत्म-ज्ञान का उपदेश करें। महामुनि शाकायन्य ने उनकी निष्ठा की परख करते हुए कहा—तात ! तलवार की धार पर नंगे पाँव चलना कितना कठिन है, पर आत्म-दर्शन की साधनायें उससे भी कठिन हैं, तुम कोई दूसरा वर माँगो। [illegible]

कोई शारीरिक सुख का वरदान माँग लो। मैं तुम्हें वृद्ध से [illegible] देने में भी समर्थ हूँ। सुखों की इच्छा त्याग कर कठिनाइयों [illegible] जीवन मत जियो ?

वृहद्रथ ने जो उत्तर दिया है उसका स्वर भिन्न है पर [illegible] वही है जो अब वैज्ञानिक बताते हैं। उन्होंने कहा—

भगवन्नस्थ चर्मस्नायुमज्जामांस शुक्र शोणि [illegible] दूपिकाविण्मूत्र वात—पित्त कफ संघाते दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिन् शरीरे कीं कामोपभोगैः ॥

—मैत्रायण्युपनिषद् १।२

हे भगवन ! यह शरीर हड्डी, चमड़ा, स्नायु, मांस, वीर्य, रक्त आँसू, विष्ठा, मूत्र, वायु, पित्त कफ, आदि से युक्त, दुर्गन्ध से भरा निस्सार है, फिर मैं विषय भोग लेकर क्या करूँगा ?" मुझे तो आप शाश्वत एवं सनातन आत्मा के ही दर्शन कराने का मार्ग-दर्शन करें।

महाराज की निष्ठा अडिग है, यह जान लेने पर महामुनि शाकायन्य ने उन्हें योग दीक्षा दी। जिससे वृहद्रथ का मनुष्य शरीर भी धन्य हो गया।

उपर्युक्त आख्यान पढ़कर क्या सचमुच ही [illegible] जाये कि मनुष्य शरीर बहुत दुर्गन्धित और घृणित है [illegible] तो उसका मूल्य और महत्व दर असल ऊपर कहे जैसा ही है पर यदि ज्ञान की दृष्टि से उसके आध्यात्मिक मूल्य और [illegible] चिन्तन किया जाये तो पता चलेगा कि ईश्वर ने यह [illegible] किन्तु सर्व समर्थ मशीन बनाई है कि उसका मूल्य [illegible] मापा ही नहीं जा सकता। टूटे-फूटे छप्पर और कच्ची-पक्की दीवारों वाले घर साधारण लोगों के होते हैं। असाधारण और सम्पन्न लोगों के मकान साज, सज्जा और कलाकारिता ही नहीं [illegible] और उसमें पायी जाने वाली सुख-सुविधाओं की मात्रा में [illegible]

होते हैं। मनुष्य शरीर जैसे यन्त्र पर अन्य दृष्टि से विचार करते हैं, तो पता चलता है कि सम्पन्न व्यक्ति के भव्य-भवन के समान मनुष्य को भी यह, परमात्मा की असाधारण देन और वरदान है, यदि उसका अच्छा उपयोग किया जा सके तो मनुष्य इसी शरीर में देवता और भगवान हो सकता है।

अन्यथा चौगुना मूल्य चढ़ जाने पर भी रासायनिक दृष्टि से मनुष्य के शरीर का मूल्य अब तक २७ रुपये हो पाया है। नार्थ वेस्टर्न मेडिकल स्कूल विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डा० डो नाल्ड फार्गीन ने १८ सितम्बर १९६९ को अपने एक बयान में बताया कि जब वस्तुओं की मँहगाई बढ़ी नहीं थी तब मनुष्य शरीर में पाये जाने वाले सभी तत्वों का कुल मूल्य केवल ७ रुपये ३५ पैसे था, पर अब चूँकि मँहगाई बढ़ गई है इसलिए उसमें पाये जाने वाले तत्वों अर्थात् शरीर का रासायनिक मूल्य २७ रु० हो गया है।

जिन रासायनिक तत्वों से शरीर बना है, उनमें से सबसे बड़ा भाग आक्सीजन का है आक्सीजन शरीर में ६५ प्रतिशत होता है यह जल और वायु से मिलता है। "शरमन्स के मिस्ट्री आफ न्यूट्रिशन" पुस्तक में शेष तत्वों की जो तालिका दी है, उसमें बताया है कि आक्सीजन के अतिरिक्त शरीर में १८ प्रतिशत कार्बन १० प्रतिशत हाइड्रोजन, ३ प्रतिशत नाइट्रोजन, २ प्रतिशत कैलशियम, १ प्रतिशत फास्फोरस, ·३५ प्रतिशत पोटेशियम, ·२५ प्रतिशत सल्फर, ·१५ प्रतिशत सोडियम, ·१५ प्रतिशत क्लोरीन, ०·५० प्रतिशत मैगनीशियम, ०·०४ प्रतिशत लोहा और शेष ·०४६ प्रतिशत भाग में आयोडीन, फ्लोरीन तथा सिलिकन पाया जाता है।

लीफ्टन और भगडोवन की फिजियोलाजी पुस्तक में वल्क-शॉन व निकल्सन ने उपरोक्त रासायनिक मात्रा को और भी छोटे से घेरे में सीमित कर दिया है। उनके अनुसार शरीर में ५४ प्रतिशत जल, १६ प्रतिशत, प्रोटीन, १४ प्रतिशत चर्बी ५ प्रतिशत, लवण और

१ प्रतिशत कार्वोहाइड्रेट होता है। इन सबका मूल्य और है इस मँहगाई वाले युग में जबकि टेरेलीन और टेरेकोट जैसे [illegible] "शूट" का मूल्य ही १०० तक जा पहुँचता है मनुष्य शरीर [illegible] पहने जाने वाले कपड़ों से भी वदतर होना, यह बताता है कि [illegible] और रासायनिक दृष्टि से शरीर का सचमुच कोई भी मूल्य और महत्व नहीं है। भारतीय तत्ववेत्ताओं ने विषयासक्त लोगों को बार-बार चेतावनी दी है कि, हे मनुष्यों ! इस स्थूल शरीर का कोई मूल्य नहीं है इसी के सुखों में आसक्त मत रहो। इसमें संव्याप्त आत्म-चेतना की भी शोध और उपलब्धि करो। तभी दुःखों से निवृत्ति हो सकती है।

कोई मनुष्य साधारण खाने-पीने और इन्द्रिय सुखों में ही [illegible] रहकर रोग शोक का जीवन जीने तक ही इस शरीर का मूल्य समझे तो उसके इस आराम को क्या कहा जा सकता है अन्यथा शरीर का एक एक पुर्जा बताता है कि मनुष्य सामान्य और साधारण नहीं [illegible] बुद्धि, विवेक और अनुभूति की दृष्टि से साकार ब्रह्म ही है। [illegible] औषधि, भाषा, लिपि, ईजीनियरींग आदि के क्षेत्र में कई [illegible] संगणन (कम्प्यूटर) बने हैं जो एक क्षण में ही ग्रहों से [illegible] बुध शुक्र दर्शल प्लूटो नेप्चून तक की दिशा 'दूरी', गति आदि [illegible] ०००००००१ तक सही और प्रामाणिक उत्तर दे देते हैं, पर [illegible] जैसी भूत और भविष्य की बातों का ज्ञान रखने वाली सामर्थ्य [illegible] संगणक आज तक नहीं बन पाया भारतवर्ष की [illegible] और [illegible] बात, कजेरा कोलावर्न उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। [illegible] साल का था तभी उसने लन्दन में २६८, ३३६ और १२५ के [illegible] गुणनफल १ सेकण्ड से भी कम समय में बना दिये। [illegible] १।१२५६सैं०में १ फोटो ले सकता है। इतनी तीव्र गति [illegible] है कि फोटो भी पर्दे में नाचने कूदने और सूक्ष्म से सूक्ष्म [illegible] प्रदर्शित करने लगती है। मूवी कैमरे में एक [illegible]

छिद्र में से ही दृश्य जा सकता है। लेन्स के पीछे लगी "फोटो सेन्सिटिव प्लेट में पड़ने से रासायनिक क्रिया द्वारा वस्तु का प्रतिबिम्ब झलक आता है। यदि मनुष्य की आयु ५० वर्ष मानी जाये और यह माना जाये कि वह मूवी कैमरा की गति से ही कुल दिन के बारह घन्टे देखता है तो भी उसके मस्तिष्क में २॥ सेन्टीमीटर लम्बी फिल्म की ५।२ × १५६ × ६० × ६० × १२ × ३६५ १।२ × ५० = ३०७६८६६ ००००० सेन्टी मीटर लम्बी फिल्म होना ही चाहिए। इसका यथार्थ मूल्य तो निकाल सकना मनुष्य के लिये कठिन ही नहीं असम्भव सा लगता है।

श्रूण शक्ति केवल मनुष्य शरीर के लिये ही सम्भव है यदि इसका भी सही उपयोग हो सका होता तो एक ही—

शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम् !

"पुण्य परमार्थ के लिये शरीर ही सबसे पहला साधन है" ऐसा मानकर शरीर का सदुपयोग करना चाहिये। आई० सी० एस० पद प्रशिक्षण में जो १० हजार रुपया खर्च करना पड़ता है वह न करना पड़ता।

योगियों के हिसाब से शरीर में ७२००० नाड़ियाँ हैं। उनकी हिसाब से इनकी लम्बाई ५ हजार फीट है। सन्देश लाने (अफरेन्ट नर्वस) सन्देश ले जाने (एफरेन्ट नर्वस) की मोटी व्यवस्था के लिये शरीर में १० हजार फुट तो केवल नसों का जाल बिछा है। एक फीट बिजली का साधारण तार २५ पैसे में आता है। इसी हिसाब से देखें तो केवल बिजली के तार बिछाने का मूल्य ढाई हजार होता है अभी शरीर जैसा जनरेटर यन्त्र (पावर हाउस) हार्ट अटैक, शरीर में ही औषधि निर्माण सिस्टम, [illegible] की [illegible] जैसी [illegible] की शक्ति [illegible] और [illegible] ([illegible] और [illegible]) [illegible] का मूल्य शरीर में काम करने वाले [illegible] और मजदूर का [illegible] हिसाब [illegible] हो [illegible]

शरीर अरबों अरब रुपयों का बैठेगा । पर उस मूल्य और महत्व तभी है जब मनुष्य उन क्षमताओं का यथार्थ उपयोग कर सके। परमात्मा से इतना मूल्य और महत्व का शरीर पाकर भी यदि कोई मनुष्य मानवता को लजाने वाले घृणित कर्म या स्वार्थ लोभ मोह और इन्द्रिया शक्ति में डूबे हुए कर्म करके अपनी आत्मा को पतित करता है तो उसका मूल्य २७ रुपये ही मानना पड़ेगा । यह मनुष्य के अपने वश की बात है कि वह सत्ताईस रुपये वाला बेकार का जीवन जिये या अरबों रुपयों मूल्य वाला ऋषि-मनीषियों और महापुरुषों जैसा भव्य जीवन जीना जीकर ईश्वरीय देन को सार्थक करे।

क्या मनुष्य खिलौना मात्र है

मनुष्य के वर्तमान स्वरूप, स्तर और स्थिति के लिए पूर्वजों की पीढ़ी को जिम्मेदार ठहराने वाले आनुवंशिकी विज्ञान द्वारा पिछले दिनों यह सिद्ध किया जाता रहा है कि प्राणी अपने पूर्वजों की प्रतिकृति मात्र होते हैं माता-पिता के डिम्ब-कीट और शुक्रकीट मिलकर भ्रूण-कलल में परिणत होते हैं और शरीर बनना आरम्भ हो जाता है। उस शरीर में जो मनःचेतना रहती है, उसका स्तर भी पूर्वजों की मनः स्थिति की भाँति ही उत्तराधिकार में मिलता है। शरीर की संरचना और मानसिक बनावट के लिए बहुत हद तक पूर्वजों के उन जीवाणुओं को ही ठहराया गया है, जो परम्परा के रूप में वंशधरों में उतरते चले जाते हैं।

इस प्रतिपादन से यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति अपने आप में कुछ बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। पूर्वजों के सांचे में ढला हुआ एक खिलौना मात्र है। यदि सन्तान को सुयोग्य सुविकसित बनाना हो तो यह कार्य पीढ़ियों पहले आरम्भ किया जाना चाहिए। अन्यथा सांचे में ढले हुए इस खिलौनो में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन न हो सकेगा ।

आनुवंशिकी का यह प्रतिपादन जहाँ तक मानव-प्राणी का सम्बन्ध है, वहाँ तक अपूर्ण और अवास्तविक है। पशु-पक्षियों में एक हद तक यह बात सही भी हो सकती, पर मनुष्य के लिए यह कहना अनुचित है कि वह पूर्वजों के साँचे में ढला हुआ एक उपकरण मात्र है। यह मानवी इच्छा-शक्ति, विवेक-बुद्धि, स्वतन्त्र-चेतना और आत्म-निर्भरता को झुठलाना है। समाज-शास्त्री, अर्थ-शास्त्री और मनोविज्ञान-वेत्ता वातावरण एवं परिस्थिति को उत्थान पतन का कारण बताते रहे हैं। आत्म-वेत्ताओं ने एक स्वर से सदा यही कहा है—मनुष्य की अन्तः चेतना स्वनिर्मित है। वह वंश परम्परा से नहीं, संचित संस्कारों और प्रस्तुत प्रयत्नों के आधार पर विकसित होती है। इच्छा-शक्ति और संकल्प-शक्ति के आधार पर अपने मानसिक ढाँचे में कोई चाहे तो आमूलचूल परिवर्तन कर सकता है।

आनुवंशिकी की मान्यताऐं एक हद तक ही सही ठहराई जा सकती हैं। चमड़ी का रङ्ग, चेहरा, आकृति, अवयव आदि पूर्वजों की बनावट के अनुरूप हो सकते हैं। पर गुण, कर्म, स्वभाव भी पूर्वजों जैसे ही हों—यह आवश्यक नहीं। यदि ऐसा हो रहा होता तो किसी कुल में सभी अच्छे और किसी कुल में सभी बुरे उत्पन्न होते। रुग्णता स्वस्थता, बुद्धिमत्ता, मूर्खता, सज्जनता, दुष्टता, कुशलता, अस्तव्यस्तता भी परम्परागत होती तो प्रगतिशील वर्ग के परिवार के सभी सदस्य सुविकसित होते और पिछड़े लोगों का स्तर सदा के लिए गया-गुजरा ही बना रहता। तब उत्थान-पतन के लिए किये गये प्रयत्नों की भी कुछ सार्थकता न होती। वातावरण का भी कोई प्रभाव न पड़ता, पर ऐसी स्थिति है नहीं। पूर्वजों की स्थिति से सर्वथा भिन्न स्तर की सन्तानों के अगणित उदाहरण पग-पग पर सर्वत्र बिखरे हुए देखे जा सकते हैं। इससे मनुष्य की स्वतन्त्र चेतना और इच्छा-शक्ति की प्रबलता का प्रश्न ही स्पष्ट रूप से सामने आता है।

भला मनुष्यों की सन्तान सदा जन्म-जात रूप से उस मत

से ग्रसित होती है ? इस खोज-बीन में पाया गया कि [illegible] नहीं है, वरन् उल्टा यह हुआ कि बच्चों ने बाप को [illegible] अपनी बर्बादी करते देखा तो वे उसके विरुद्ध होगये और [illegible] केवल मद्यपान से अपने को अछूता रखा, वरन् दूसरों को [illegible] अपनाने से रोका।

मनुष्यों के गुण सूत्रों के हेर-फेर से जो परिणाम [illegible] हैं, उनसे स्पष्ट है कि बिगाड़ने में अधिक और बनाने में [illegible] मिली है। विकलाङ्ग और पैतृक रोगों से ग्रसित सन्तान [illegible] में आशाजनक सफलता मिली है। क्योंकि विषाक्त [illegible] रसायन सदा अपना त्वरित परिणाम दिखाते हैं। [illegible] सोन्मुख प्रयत्नों की नहीं होती। नीलाथोथा खाने से [illegible] सकती है, पर पाचन-शक्ति सुधार देने के प्रयोग [illegible] होते। देव से असुर की शक्ति को अधिक मानने का [illegible] मनुष्यों में मनचाही सन्तान उत्पन्न करने का प्रयोग [illegible] में कुछ अधिक सफल हुआ है कि रङ्ग-रूप और [illegible] जनक-जननी का सादृश्य दृष्टिगोचर हो सके। काया [illegible] दृढ़ता, बौद्धिक तीक्ष्णता एवं भावनात्मक उत्कृष्टता [illegible] वैज्ञानिक प्रयोगों का उत्साह-वर्धक परिणाम नहीं [illegible]।

गुण सूत्रोंको बदलने में इन दिनों विद्युत्-ऊर्जा [illegible] हेर-फेर के साधन जुटाये जा रहे हैं, पर वे यह [illegible] बाहरी थोप-थाप स्थिर न रह सकेगी—उसमें [illegible] देखा जा सके। शरीर के प्रत्येक अवयव को [illegible] और मस्तिष्क का सूत्र-संचालन इच्छा-शक्ति के हाथ [illegible]। अस्तु शारीरिक, मानसिक समस्त परिवर्तनों का [illegible] इच्छा-शक्ति को ही मनाना पड़ेगा। गुण-सूत्रों पर भी [illegible] प्रभाव पड़ता है और इसी माध्यम से वह परिवर्तन [illegible] जो मन-चाही पीढ़ियाँ उत्पन्न करने के लिए वैज्ञानिकों को [illegible]

अभीष्ट स्तर की पीढ़ियाँ क्या रासायनिक हेर-फेर अथवा विद्युतीय प्रयोग उपकरणों द्वारा प्रयोगशालाओं में विनिर्मित हो सकती हैं ? यह एक जटिल प्रश्न है। यदि ऐसा हो सका तो यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य इच्छा-शक्ति का धनी नहीं; वरन् रासायनिक पदार्थों की परावलम्बी प्रतिक्रिया मात्र है। यदि यह सिद्ध हो सका तो इसे मनोबल और आत्मबल की गरिमा समाप्त कर देने वाली दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति ही कहा जायगा, पर ऐसा हो सकना सम्भव दिखाई नहीं पड़ता—भले ही उसके लिए ऐड़ी-चोटी प्रयत्न कितने ही किये जाते रहें।

शरीर के विभिन्न अङ्गों पर दबाव डाले जाते रहे हैं, पर प्राणी की मूल इच्छा ने उस दबाव को आवश्यक नहीं समझा तो उस तरह के परिवर्तन नहीं हो सके। चीन में शताब्दियों तक स्त्रियों के पैर छोटे होना—सौन्दर्य का चिन्ह माना गया, इसके लिए उन्हें कड़े जूते पहनाये जाते थे। उससे पैर छोटे बनाने में सफलता मिली। पर वंश-परम्परा की दृष्टि से वैसा कुछ भी नहीं हुआ। हर नई लड़की के पैर पूरे अनुपात से ही होते थे।

प्राणियों के क्रमिक-विकास में इच्छा-शक्ति का ही प्रधान स्थान रहा है। मनुष्य तो मनोबल का धनी है, उसकी बात जाने भी दें और अन्य प्राणधारियों पर दृष्टिपात करें तो प्रतीत होगा कि उनकी वंश-परम्परा में बहुमुखी परिवर्तन होता रहा है। इसका कारण सामयिक परिस्थितियों का चेतना पर पड़ने वाला दबाव ही प्रधान कारण रहा है। असुविधाओं को हटाने और सुविधाएँ बढ़ाने की आन्तरिक आकांक्षा ने प्राणियों की शारीरिक स्थिति और आकृति में ही नहीं प्रकृति में भी भारी हेरफेर प्रस्तुत किया है। जीव-विज्ञानी इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हैं।

यदि पूर्वजों के गुण लेकर ही सन्तानें उत्पन्न होने वाली बात को सही माना जाय तो जीवों की आकृति प्रकृति में परिवर्तन कैसे सम्भव हुआ ? उस स्थिति में तो पीढ़ियों का स्तर एक ही प्रकार का

चलता रहना चाहिए था।

लेमार्क ने प्राणियों का स्तर बदलने में वातावरण की परिस्थितियों को श्रेय दिया है। वे कहते हैं—इच्छा-शक्ति [illegible] के कारण उभरती, उतरती है। सुविधा-सम्पन्न परिस्थितियों में [illegible] किसी प्रकार का दबाव नहीं रहता। अतएव उनका शरीर [illegible] बुद्धिकौशल भी ठप्प पड़ता जाता है। अमीरों के वैभव में पले [illegible] लोग अक्सर छुईमुई बने रह जाते हैं और उनका नाजुक शरीर [illegible] के लिए एक छोटा-सा आघात ही पर्याप्त होता है।

लेमार्क ने नये किस्म के अनेक जीवधारियों की उत्पत्ति का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हुए कहा है कि बाहर से मौलिक जीव दीखने पर भी वस्तुतः किसी ऐसे पूर्व प्राणी के ही वंशज होते हैं, जिन्हें परिस्थितियों के दबाव से अपने परम्परागत ढाँचे में आमूलचूल परिवर्तन करना पड़ा।

जीवों के विकास-इतिहास के पन्ने-पन्ने पर यह प्रमाण भरे पड़े हैं कि प्राणियों के अङ्ग प्रत्येक निष्क्रियता के आधार पर कुण्ठित हुए हैं और सक्रियता ने उन्हें विकसित किया है। प्रवृत्ति, प्रयोजन और चेष्टाओं का मूल इच्छा-शक्ति ही है। असल में यह इच्छा शक्ति ही प्राणिसत्ता में विकास, अवसाद उत्पन्न करती है। रासायनिक पदार्थों और गुण-सूत्रों की वंश-परम्परा विज्ञान में नाधिक क्षमता को एक अंश तक प्रभावित करने वाला आधार भर माना जाना चाहिए। आधुनिक विज्ञान-वेत्ता मौलिक-भूल यह कर रहे हैं कि मानवी-सत्ता को उन्होंने रासायनिक प्रतिक्रिया मात्र समझा है और उसका निर्माण करने के लिए जनक-जननी बनके जनन-रसों को अत्यधिक महत्त्व दे रहे हैं। इस एकाङ्गी आधार को लेकर मनचाही आकृति-प्रकृति की पीढ़ियाँ वे कदाचित् ही पैदा कर सकें।

वैज्ञानिक वीजमन ने चूहों और चुहियों की लगातार बीस पीढ़ियों तक पूँछें काटी और देखा कि क्या इससे पूँछ रहित [illegible]

वाले चूहे पैदा किये जा सकते हैं ? उन्हें अपने प्रयोग में सर्वथा असफल होना पड़ा। बिना पूँछ के माँ-बाप भी पूँछ वाले बच्चे ही जनते चले गये। इससे यह निष्कर्ष निकला कि मात्र शारीरिक हेरफेर से वंशानुक्रम नहीं बदला जा सकता। इसके लिए प्राणी की अपनी रुचि एवं इच्छा का समावेश होना नितान्त आवश्यक है।

हर्बर्ट स्पेन्सर ने अपनी खोजों में ऐसे कितने ही प्राणियों के, उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिन्होंने शरीर के किसी अवयव को निष्क्रिय रखा तो वह क्षीण होता चला गया और लुप्त भी होगया। इसके विपरीत ऐसे उदारण भी कम नहीं हैं, जिनमें 'आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है" वाले सिद्धान्त को सही सिद्ध करते हुए अपने शरीर में कई तरह के पुर्जे विकसित किये और पुरानों को आश्चर्यजनक स्तर तक परिष्कृत किया।

समुद्र-तल की गहराई में रहने वाली मछलियों को प्रकाश से वंचित रहना पड़ता है। अतएव उनके आँखों का चिन्ह रहते हुए भी उनमें रोशनी नहीं होती है। आँख वाले अन्धों में उनकी गणना की जा सकती है। अँधेरी गुफाओं में जन्मने और पलने वाले थलचरों का भी यही हाल होता है। उनकी आँखे ऐसी होती हैं, जो अन्धेरे में ही कुछ काम कर सकें। प्रकाश में तो वे बेतरह चौंधिया जाती हैं और निकम्मी साबित होती हैं।

समर्थ का चुनाव मात्र शारीरिक बलिष्ठता पर निर्भर नहीं है परन्तु सच पूछा जाय तो उनकी मनःस्थिति की ही परख इस कसौटी पर होती है। पशुवर्ग और सरीसृप वर्ग के विशाल काय प्राणी आदिम-काल में थे। उनकी शारीरगत क्षमता अद्भुत थी, फिर भी वे मन्द-बुद्धि अदूरदर्शिता, आलस जैसी कमियों के कारण दुर्बल संज्ञा वाले ही सिद्ध हुए और अपना अस्तित्व खो बैठे। जब कि उसी समय के छोटी काया वाले प्राणी अपने मनोबल के कारण न केवल अपनी सत्ता न भी बचा सके बरन् क्रमशः विकासोन्मुख भी होते चले गये।

जीवों के विकास क्रम का एक महत्वपूर्ण आधार यह है कि

उन्हें परिस्थितियों से जूझना पड़ा—अवरोध के सामने टिके रहने के लिए अपने शरीर में तथा स्वभाव में अन्तर करना पड़ा। यह परिवर्तन किसी रासायनिक हेर फेर के कारण नहीं, विद्युत जैसी सूक्ष्म शक्ति की प्रवाह-धारा बदल जाने से ही सम्भव हुआ है। जीवन संग्राम में जूझने की पुरुषार्थ-परायणता का उपहार ही अल्प-प्राण जीवों को महाप्राण स्तर का बन सकने के रूप में मिला है। जिन्होंने स्थिति से लड़ने की हिम्मत छोड़ दी और हताश होकर पैर पसार बैठे उन्हें प्रकृति ने कूड़े कचरे की तरह बुहार कर घूरे पर पटक दिया। किसान और माली भी तो अपने खेत-बाग में अनुपयोगी खर-पतवार को ऐसे ही उखाड़-पछाड़ करते रहते हैं। विकास की उपलब्धि पूर्णता जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने के फलस्वरूप ही मिलती है और उस संघर्षशीलता का पूरा आधार साहसी एवं पुरुषार्थी मनोभूमि के साथ जुड़ता रहता है।

आनुवंशिकी-विज्ञान की अन्यान्य शोधें कितनी ही महत्वपूर्ण क्यों न हों पर यह प्रतिपादन स्वीकार नहीं हो सकता कि प्राणियों का विशेषतया मनुष्यों का स्तर पूर्वजों के परम्परागत गुण सूत्रों पर निर्भर है। इच्छा-शक्ति की प्रचण्ड समर्थता के आधार पर शारीरिक, मानसिक और सामाजिक परिवर्तनों की सम्भावना को मान्यता देने के उपरान्त ही वंशगत विशेषताओं की चर्चा की जाय,—यही उचित है।

नये मनुष्य का निर्माण

समय जिस तेजी से आगे बढ़ रहा है और परिस्थितियाँ जिस द्रुतगति से बदल रही हैं उसे देखते हुए यह प्रश्न उभर कर सामने आगे आ सकता है कि विकट भविष्य से जूझने वाला—नई समस्याओं को सुलझा सकने वाला—मनुष्य उत्पन्न होगा अथवा नहीं। वैज्ञानिक इसका समाधान प्रजनन तत्व में भारी हेरफेर करके ढूँढ रहे हैं जिन रासायनिक पदार्थों से जीवन बनता है उनकी मात्रा एवं क्रम बदल देने से—वर्तमान जीवकोषों की कार्य-क्षमता को

ढंग से वर्तमान जीव कोषों की शल्य क्रिया कर देने से ऐसा सम्भव हो सकता है। वे सोचते हैं इन सुधरे हुए जीव- कोषों को माता के गर्भ की अपेक्षा किसी स्वतन्त्र परख नली में पकाया जाय ताकि माता के रक्त-मांस से होने वाला भ्रूण पोषण कहीं उस कष्ट साध्य सुधार प्रक्रिया को बेकार न करदे।

डा० रोस्टाण्ड इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सुविकसित स्तर के मनुष्यों की हू-बहू वैसी ही 'ब्लू प्रिन्ट' कापियाँ बनाकर तैयार की जा सकेंगी। तब गाँधी और जवाहरलाल के न रहने से किसी क्षति की आशंका न रहेगी क्योंकि उनके जीवन काल में ही अथवा मरने के बाद हू-बहू वैसे ही व्यक्ति सैकड़ों हजारों की संख्या में प्रयोग-शालाएँ उत्पन्न करके रख दिया करेंगे। इन डा० रोस्टाण्ड ने टिश्यू कल्चर अर्थात् कोशाओं की खेती को अगले दिनों सामान्य बागवानी की तरह प्रयुक्त होने की भविष्य वाणी की है। कार्नेल विश्व विद्यालय के डा० फ्रेडिक सी० स्टीवर्ड द्वारा गाजर की एक कोशिका को पूरी गाजर में विकसित करने में सफलता प्राप्त करने के बाद अब वैज्ञानिक मनुष्य के बारे में भी यह सोचने लगे हैं कि रजवीर्य को अनावश्यक महत्व देने की जरूरत नहीं है। हर कोशिका में इतनी सम्भावना विद्यमान है कि वह अपने आपको एक स्वतन्त्र मनुष्य के रूप में विकसित कर सके। रतिक्रिया का विकल्प प्रयोगशालाएँ बन सकती हैं और प्रजनन के लिए माता-पिता का नगण्य सा सहयोग पाकर अपना उत्पादन जारी रख सकती हैं।

इटली के डा० डेनियल पैन्चुचि ने आलोनो की अपनी प्रयोगशाला में कृत्रिम मनुष्य भ्रूण उत्पन्न किये थे। उन्होंने एक पारदर्शी गर्भाशय बनाया था। उसमें एक रजकोश और एक शुक्रकोश का संयोग कराया तथा वे रसायन भर दिये जिनमें भ्रूण पलता है। भ्रूण स्थापित हुआ और उसी तरह बढ़ने लगा जैसा कि माता के पेट में पलता है। पहला भ्रूण २९ दिन और दूसरा भ्रूण ५९ दिन

तक उन्होंने पाला। इस उपलब्धि ने संसार में तहलका मचा दिया और यह संभावना स्पष्ट करदी कि मनुष्यों का कृत्रिम [illegible] एक सुनिश्चित तथ्य है। डा० पैत्रुचि से पहले भी यह [illegible] बहुत कुछ प्रशस्त हो चुकी थी। डा० शैटल्स, डा० [illegible] के इस प्रयोग परीक्षण की सफल शुरूआत बहुत पहले ही आरम्भ कर दी थी।

विचारक मॉलकम मगरिज का कथन है कि सृष्टि के आरम्भ से लेकर अब तक प्रकृति के जितने रहस्य जानने में मनुष्य को सफलता मिली थी; उसकी तुलना में कहीं अधिक रहस्यों का [illegible] रहस्योद्घाटन इस शताब्दी में हुआ है। यह क्रम आगे और भी तीव्र गति से चलेगा। इन उपलब्धियों में एक सबसे बड़ी कड़ी होगी अभीष्ट स्तर के मनुष्यों के उत्पादन की। अगले दिनों शरीर की दृष्टि से असह्य समझी जाने वाली परिस्थितियों में रहने वाले मनुष्य उत्पन्न किये जा सकेंगे और विद्वान, दार्शनिक, [illegible], योद्धा, राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक, व्यापारी, श्रमिक आदि वर्ग [illegible] योग्यता के आवश्यकतानुसार उत्पन्न किये जा सकेंगे। तब मनुष्य सर्व शक्तिमान न सही असीम शक्ति सम्पन्न अवश्य [illegible] सकेगा।

भारत वंशी अमेरिकी वैज्ञानिक डा० हरगोविन्द खुराना ने वंश तत्वों के रहस्यों का उद्घाटन करके नोबेल पुरस्कार प्राप्त [illegible] है। रीबो न्यूक्लिक एसिड (आर० एन० ए०) में जीवकोषों की [illegible] क्षमता है यह बहुत पहले जान लिया गया था। डायोक्सी [illegible] निक्लिक एसिड (डी० एन० ए०) का जीवन संचार में [illegible] है यह विश्लेषण अब बहुत आगे बढ़ गये हैं। ए० जी० टी० और सी० प्रोटीनों के सूक्ष्म कण किस प्रकार जीवन तत्व की [illegible] करते हैं यह जीवविज्ञान के छात्रों को विदित ही [illegible] न्यूक्लिओटाइड की चार रसायनों की भूमिका [illegible]

जा चुकी है । सन् १९६५ में इस विज्ञान ने क्रान्तिकारी उपलब्धियाँ हस्तगत की हैं ।

विस्कान्सिन विश्व विद्यालय के विज्ञानियों ने घोषणा की कि जीवन के वंशानुगत घटक—वंश तत्व—'जीन'—का समग्र रासायनिक संश्लेषण करने में वे सफल हो गये हैं । वंश तत्व का उत्पादन, अभिवर्धन, प्रत्यावर्तन एवं प्रत्यावर्तन कर सकने की विधा उन्हें उपलब्ध हो गई है ।

कैलीफोर्निया इन्स्टीट्यूट आफ टेक्नोलोजी के डा० विलियम ड्रेयर ने भविष्यवाणी की है कि ऐसे निरोधक तत्वों का 'जीन्स' में प्रवेश कराया जा सकेगा जो पैतृक रोगों का उन्मूलन करके नई स्वस्थ स्थापना के लिए रास्ता साफ कर सकें । यह तो निवारण की बात हुई । इसका दूसरा पक्ष स्थापना का है । जिस प्रकार किसी उर्वर खेत में इच्छानुसार बीज बोकर अभीष्ट फसल उगाई जा सकती है उसी प्रकार परम्परागत अवरोधों को हटा सकने की सफलता के साथ एक नया अध्याय और जुड़ जाता है कि वंश तत्व में इच्छानुसार विशेषताओं के बीज बोये जा सकेंगे अगली पीढ़ियों को वैसा ही उत्पन्न किया जा सके जैसा कि चाहा गया था ।

ब्रिटेन की इन्टर नेशनल साइन्स [illegible] एसोसिएशन के अध्यक्ष जी० आर० टेलर ने अपनी पुस्तक 'दि बायोलोजिकल टाइम बम' नामक पुस्तक में जीव विज्ञान की नवीनतम उपलब्धियों का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि वह दिन दूर नहीं जब मनुष्य की अभीष्ट आकृति प्रकृति-शक्तियों की नस्ल उगाई जा सकेगी और उन्हें कलम लगाकर वृक्ष से वृक्ष बनाया जा सकेगा ।

एक परिशुद्ध [illegible] वर्षों से [illegible] पुरुष-[illegible] से ५० हजार [illegible] किये जा सकते हैं । [illegible] तथा [illegible] भी [illegible] सकती है । डा० [illegible] और डा० [illegible]

[illegible]]

मोन ढूँढ़ निकाले हैं जो नारी शरीर में प्रवेश कराने के [illegible] एक साथ कई बच्चे उत्पन्न कर सकने में समर्थ बना सकते हैं। [illegible] फोलीकल स्टीम्युलेटिंग हारमोन की चर्चा विशेष रूप से हुई है।

न्यूजीलैण्ड के आकलैण्ड नगर में शर्ले एन [illegible] महिला ने एक साथ चार लड़कियाँ और एक लड़का प्रसव किया। इसी प्रकार स्वीडन के फालुन नगर में एक महिला करीन ओसैन ने भी एक साथ पाँच बच्चे जने। यह चमत्कार नव आविष्कृत हारमोनों के प्रयोग का था। जिनके गर्भाशय में पहले एक भी डिम्ब अण्ड नहीं था उनमें एक साथ पाँच अण्डों का उत्पन्न कर देना जीव-विज्ञान का एक विशिष्ट चमत्कार है।

यह उपलब्धियाँ सम्भावना का द्वार खोलती हैं कि मानव भ्रूण का पालन किसी उपयुक्त प्रकृति की पशु मादा के पेट में [illegible] लिया जाय इससे उस बच्चे में मनुष्य और पशु के सम्मिलित गुण विकसित हो जायेंगे। इन प्रयोगों से आरम्भ में थोड़े से बच्चे [illegible] में ही अधिक परिश्रम पड़ेगा। पीछे तो कृत्रिम गर्भाधान विधि से थोड़े ही बच्चे तरुण होकर सहस्रों बच्चे पैदा कर देंगे। एक स्वस्थ सांड के द्वारा जीवन भर का संचित शुक्र ५० हजार तक [illegible] कर सकता है। विशेष रासायनिक प्रयोगों से उन्हीं [illegible] मादा [illegible] द्वारा एक साथ पाँच तक सन्तानें उत्पन्न कराई जा सकती हैं। यदि मनुष्य जाति को जल्दी बढ़ाने के लिए ऐसे ही तरीके काम में [illegible] जायेंगे साथ ही पुरानी पीढ़ी को समाप्त करके उस [illegible] करण किया जायगा। अन्यथा दोनों स्तर की सन्तानें [illegible] फिर उनका सांकर्य होने लगेगा और वे नये प्रकार से और [illegible] नई समस्याएँ उत्पन्न करेंगे?

नई पीढ़ी के उत्पादन कोषों के मूल आधार तो मानवी [illegible] कोष ही रहेंगे, पर उनके साथ उस कृत्रिम जीवन [illegible] दिया जायगा जो अभी-अभी मनुष्य के हाथ लगी है। [illegible]

संमिश्रण से नवीन जीवाणु बना सकने में सफलता प्राप्त करली गई है। पर वे अभी इस स्थिति में नहीं हैं कि पूर्ण प्राणी का स्थान ले सकें। इसके लिए उन्हें सुविकसित जीवन तत्व के साथ मिला देने से ही काम चलेगा। पुरातन और नवीन की कलम लगा कर ऐसे जीव कोष तैयार किये जाने की सम्भावना व्यक्त की गई है जो इच्छित स्तर के मनुष्य रूप में विकसित हो सकें।

विश्वास किया जाता है कि इन प्रयत्नों के फल-स्वरूप अबकी अपेक्षा निकट भविष्य में अभीष्ट परिष्कृत स्तर का मानवी उत्पादन किया जा सकेगा। शीत, उष्ण, पहाड़ी, रेतीले प्रदेशों में रह सकने योग्य स्थिति के जिस देश को जब जितने मनुष्यों की आवश्यकता पड़ा करेगी तब वहाँ उतने बच्चे उस प्रकार के पैदा कर लिए जाया करेंगे। इतना ही नहीं आवश्यकतानुसार उस मानसिक स्तर की सन्तानें भी पैदा करली जाया करेंगी जिनकी कि उन दिनों आवश्यकता पड़ेगी। ऋषि, साहित्यकार, गायक, शिल्पी, योद्धा, श्रमिक, वणिक, धर्माचार्य, दार्शनिकों को जब जहाँ जितनी आवश्यकता पड़े तब वहाँ वे उत्पन्न हो जाया करेंगे और सामाजिक सन्तुलन बनाये रखा जा सकेगा।

अभिनव मनुष्य के निर्माण में, विज्ञान अपने ढङ्ग से सोच और कर रहा है। उद्देश्य और पुरुषार्थ दोनों ही दृष्टि से इन प्रयत्नों की सराहना की जानी चाहिए पर साथ ही यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि मनुष्य पूर्णतया भौतिक तत्वों से विनिर्मित नहीं है जिसे विद्युत आवेशों, रस और रासायनिक प्रयोगों से मात्र प्रयोगशालाओं और उपकरणों के माध्यम से बदला या बनाया जा सके। उनमें एक स्वतन्त्र चेतना का भी अस्तित्व है। उस तथ्य को भुला नहीं देना चाहिये। छोटे शरीरों में उतना नहीं जितना उस चेतना में घुस पड़ी आत्मा की का है। मूलतः वे आत्माएँ ही गड़बड़ा कर शारीरिक,मान-

सिक विकृतियाँ उत्पन्न करती हैं। यह विकृतियाँ [illegible] होती हैं न कि विद्युत आवेशों और रासायनिक [illegible] वढ़ से ! मनुष्य की वर्तमान दुर्गति का कारण वह [illegible] ही है जिसने मनुष्य को दुर्भावग्रस्त और दुष्प्रवृति संलग्न [illegible] का नर-पशु बनाकर रख दिया है।

सुधार इस चिन्तन स्तर का भी होना चाहिए। [illegible] परम्परा के खोट हटा देने अथवा रक्त-माँस का स्तर [illegible] अधिक से अधिक इतना ही हो सकेगा कि शारीरिक एवं बौद्धिक [illegible] से नई पीढ़ी समय की परिस्थिति के अनुरूप ढल जाए। [illegible] उत्कृष्टता के बिना मनुष्य 'यन्त्र मानव' भर रह जायगा। [illegible] महामानवों का गौरवास्पद स्तर बनाये रहने की और संसार में [illegible] वनाओं का स्वर्गीय वातावरण बनाने की क्षमता कैसे [illegible] और इसके बिना वह क्रिया शील किन्तु भाव रहित पीढ़ी [illegible] दिव्य सौन्दर्य, संरक्षण, अभिवर्धन कैसे कर सकेगी ? [illegible] विश्व मात्र हलचलों का केन्द्र ही बन कर रह जायगा।

अभिनव मनुष्य के निर्माण में आध्यात्मिक क्षेत्र का भी [illegible] योगदान रहना चाहिए। जन्म और जननी का [illegible] व्यक्तित्व विनिर्मित किया जाय। गर्भ काल से लेकर [illegible] तक परिष्कृत परिस्थितियों में विकसित होने का [illegible] अवसर दिया जाय तभी उनकी आत्माओं में उत्कृष्टताओं का [illegible] होगा। भौतिक दृष्टि से नई पीढ़ी को समुन्नत [illegible] दृष्टि से उसे समुन्नत बनाने के लिए अध्यात्म विज्ञानी [illegible] दोनों के समन्वित प्रयत्न ही उस स्वप्न को साकार कर [illegible] समुन्नत स्तर के मनुष्य के निर्माण की आशा की गई है।

● कायकलेवर में विद्यमान शिक्षक

अन्तरंग जीवन की विभिन्नताएँ [illegible]

श्मशान में बुद्धि चकराती है। उसमें जो कुछ देखना ढूँढ़ना चाहें, सब कुछ मिल जायगा।

अपने इस शरीर में ऐसे सन्त और ऋषि भी विद्यमान हैं जो एक प्रकार से अपना सर्वस्व समर्पण करके ही इस काया को इस योग्य बनाये रख रहे हैं कि वह जीवित और समर्थ कही जा सके। पर बदले में कुछ भी लेने की न उनकी इच्छा होती है न लेते ही हैं।

इन ऋषियों का नाम-रसायन शास्त्रियों की परिभाषा के अनुसार 'एंजाइम' है। यों मोटेतौर से समझा यह जाता है कि हृदय, फुफ्फुस, आमाशय, मस्तिष्क, वृक्क, यकृत आदि अवयवों के क्रिया-कलाप पर जीवन निर्भर है। महत्व और श्रेय इन्हें ही मिलता है। और इनकी खुराक जुटाने के लिए अन्न, जल, श्वास, निश्वास, आच्छादन आदि के साधन जुटाने पड़ते हैं। यह साधन न मिलें तो पारिश्रमिक न मिलने पर नौकरी छोड़ देने वाले मजदूरों की तरह ये भी हड़ताल पर जा सकते हैं और जिन्दगी का सरंजाम देखते-देखते बिखर सकता है।

दूसरी ओर ये 'एंजाइम' घटक हैं जो कभी किसी प्रकार की खुराक ग्रहण नहीं करते। दूसरों पर तनिक भी निर्भर नहीं हैं, आत्मबल से ही अपनी सत्ता टिकाये हुए हैं। इनकी जानकारी भी मोटेतौर पर सब शरीर रचना जानने वालों को नहीं होती। यश और श्रेय की न उन्हें आकांक्षा है और न मिलता ही है। मात्र कर्तृत्व ही इनके सामने सब कुछ है। मरने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। जबकि जीवाणु, कोशिकाएं, ऊतक निरन्तर मरते जाते रहते हैं तब यह मृत्युंजयी देवताओं की तरह अपने स्वरूप में यथास्थिति रह कर बिना परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव किये निरन्तर एक निष्ठ भाव से अपने कर्तव्य की दीपशिखा यथावत् संजोये रहते हैं।

भौतिक विज्ञान की परिभाषा के अनुसार जीवन और कुछ नहीं शरीर की भीतरी रासायनिक प्रक्रियाओं का खेल मात्र है। शरीर के भीतर मुँह, आमाशय, आँतें, हृदय, फुफ्फुस, गुर्दे, यकृत आदि अवयव ही मोटे तौर पर काम करते दिखाई देते हैं। इस प्रकार, श्वास, प्रश्वास, आकुंचन, प्रकुंचन-तन्तु चेतना जैसे सूक्ष्म क्रिया-कलापों को भी देखा समझा जाता है। विभिन्न अवयवों से स्रवित होने वाले पाचक रस, हारमोन ग्रन्थियों से टपकने वाले स्राव, रक्त के सम्मिश्रित जीवाणु ऊतक कोशिकायें, आदि भी अलग-अलग कार्य करके जीवन की स्थिरता में सहायता पहुँचाते हैं। इन सारे क्रिया-कलाप को शक्ति देने वाले एक और प्रकार के घटक काम करते हैं जिनके सम्बन्ध में अभी बहुत कम जानकारी उपलब्ध हो सकी है। इन घटकों का नाम है—ऐंजाइम।

सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र से ही दीख पड़ने वाले जीवाणु बैक्टी-रिया—भी इन एन्जाइमों के बलबूते ही जीवित रह रहे हैं। इन घटकों के अतिरिक्त शरीर का हर पदार्थ घटता—बढ़ता रहता है पर यह अपनी स्थिरता अक्षुण्ण ही बनाये रहते हैं। कोशिकाओं को आक्सिजन न मिले तो वे जीवित नहीं रह सकतीं। पर ये ऐसे संत ऐंजाइम हैं कि निरन्तर सेवा संलग्न रहते हुए भी आहार से दूर इस काय-कलेवर में साँस तक का एक कण भी स्वीकार नहीं करते। यह कई जाति के होते हैं। हर जाति अपनी निर्धारित कार्य पद्धति में ही संलग्न रहती है। कोई वर्ग किसी दूसरे के काम पर हाथ नहीं डालता। वर्ण धर्म की तरह इन्हें अपना निर्धारित कार्य ही प्रिय है। जहाँ अन्य जीवाणुओं में परिवर्तन आता रहता है वहाँ इनकी सीमा मर्यादा में कभी कोई रत्ती अन्तर नहीं आता।

जो भोजन पेट में जाता है उसे [illegible] यह ऐंजाइम ही बनाते हैं। यदि यह न होंगे तो रोटी और [illegible]

से दूसरे में कोई अन्तर न रहता । तब हम इनमें [illegible] दोनों भी ग्रहण नहीं कर सकते थे । जो अवयव इन पदार्थों की क्रिया से पाचन रस उत्पन्न करते हैं उन्हें ग्रन्थियाँ—[illegible] कहते हैं—अंग्रेजी भाषा में इन्हें 'ग्लैण्ड' कहा जाता है । मुख की लार में 'टायलिन' आमाशय के 'पेप्सिन' और 'रेनिन' जैसे पाचक-रसों के रूप में इन ऐंजाइमों का अस्तित्व देखा जा सकता है । पाचक-रसों को शरीर में घुल मिल जाने योग्य बनाने का कार्य इन्हीं का है । आमाशय में तीन ऐंजाइम होते हैं (१) ट्रिप्सिन (२) अमाइलोप्सिन (३) स्टीप-सिन । इनके द्वारा किया गया परिवर्तन अन्न को रस रूप में बदलने की क्रिया को यदि कोई वार्तालाप में देख सकता तो उसे आश्चर्य चकित रह जाना पड़े ।

सच तो यह है कि अन्न का बहुमूल्य रस में बदल जाना कितना अद्भुत है । साग, अंग का पानी स्वयं विकसित होते-होते '[illegible]' के जैसा और प्रजा का रूप धारण कर लेता है यह प्रक्रिया आश्चर्य-चकित करने वाली है । यह सभी जानता है । इस परिवर्तन का आधार क्या है ? यह ढूँढ़ने के लिए हमें इन 'ऐंजाइमों' के सामने ही नतमस्तक होना पड़ेगा, जिनके अनुसार ये सूक्ष्म यन्त्र महान कार्य करते जाते हैं, ये सूक्ष्म प्राण तत्त्ववेत्ताओं की तरह अपनी प्रगति की बात नहीं सोचते वरन् दूसरों का उत्थान, परि-वर्तन ही उनका लक्ष्य है और उस प्रक्रिया को सम्पन्न करके दूसरों को विकसित देखते हुए—वे इसी में सन्तुष्ट रहते हैं मानो सब कुछ उन्हें ही मिल गया हो, उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म की तरह सर्वव्यापी, इतना निर्विकार रहते हुए भी जीव-जगत के [illegible] का समस्त परिश्रम के साथ निर्वाह करते हैं ।

ठीक तरह नहीं कर पाते और फलतः पर [illegible] इनकी कमी मांस-पेशियों में ऐसी ऐंठन उत्पन्न करती है जिसका [illegible] कोई इलाज नहीं निकल सका।

इन घटकों के सहायक सेक्रेटरी भी होते हैं। जिन्हें [illegible] यौगिक' कहते हैं। विटामिनों को इसी वर्ग में रखा जा सकता है। [illegible] वस्त और मौलिब्डेनम का सहारा मिल जाए तो ये अधिक [illegible] हो जाते हैं और पारा सायनाइड जैसे विष इनका [illegible] हैं। इनकी अनुपस्थिति में जीवन रक्षा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मानव-जीवन जैसे अद्भुत संस्थान की [illegible] उससे भी अधिक इन ऐंजाइम घटकों की है [illegible] ये प्रभावी जीवन संचार कर सकने में समर्थ हैं।

शिक्षा, उपदेश, मार्ग-दर्शन, करने के लिए बाहर [illegible] जरूरत नहीं। सद्गुरु कितने ही रूप में हमारे काय [illegible] जमान हैं और अपना प्रशिक्षण निरन्तर जारी रख रहे हैं। [illegible] और अनुचित का भेद करने वाला परामर्श अपना अन्तरात्मा निरन्तर देता रहता है। सत्कर्म करते हुए आत्म-सन्तोष, कुकर्म करते हुए आत्म धिक्कार की जो भावना उठती रहती है उसे [illegible] क्षण-अन्तरात्मा का उपदेश कहा जा सकता है। काश, हम गुरु [illegible] सीखने की—ग्रहण करने अपनाने की स्थिति में रहे होते [illegible] जीवन न जीते तब महानता ही हमारी गतिविधियों में [illegible] और नर-नारायण जैसी स्थिति में रह रहे होते।

परमात्मा ने मनुष्य शरीर को इतना समर्थ और [illegible] है कि वह न केवल आत्म निर्भर रह सके वरन् अपनी [illegible] का स्वयं भी समाधान कर सके। इतना ही नहीं शरीर में [illegible] होने वाली विकृतियों का संशोधन परिष्कार भी [illegible] विद्यमान चेतना स्वयं अपने आप करती रहती है। इस प्रकार [illegible] से लाभ उठाना ही बुद्धिमत्ता है।

मुद्रक—[illegible] प्रिंटिंग प्रेस, मथुरा।

अध्यात्म का विज्ञान की पृष्ठभूमि पर प्रतिपादन अत्य-धिक कठिन कार्य है। पिछले युग में श्रद्धा को मान्यता मिली है। अब उसका स्थान तर्क ने ले लिया। आधार बदल जाने पर सारा ढांचा ही नये सिरे से खड़ा करने की आवश्यकता पड़ गई। बुद्धिवाद के समाधान के लिए उपयोगिता का, प्रत्यक्षवाद के समाधान के लिये प्रमाणों का प्रस्तुतीकरण आवश्यक होगा।

इन दोनों ही आधारों को सही रीति से सम्भालने के लिए ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान (शान्ति-कुञ्ज) हरिद्वार में अनु-सन्धान की समर्थ प्रक्रिया आरम्भ की गई है। सारा ढांचा खड़ा किया गया है ताकि प्रस्तुत अनास्थावाद के खण्डन करने पर [illegible] कर आक्रमण करने वाली प्रतिक्रिया का सामना किया जा सके। दुर्बल आधार तो प्रत्यक्षवाद के इस तूफानी वातावरण में ठहर भी न सकेंगे।

ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान के दो भाग हैं—एक दार्शनिक अनुसन्धान, दूसरा प्रयोगात्मक प्रत्यक्ष परीक्षण। एक पक्ष [illegible]-द्ध हुए अध्यात्म के दार्शनिक प्रतिपादनों का पर्यवेक्षण करके अध्यात्म के उस स्वरूप का निर्धारण करेगा जो सार्वभौम और सर्वजनीन, सर्वसुलभ और सर्वोपयोगी सिद्ध होने के साथ-साथ पुरातन भी है। श्रद्धा संस्कृति की श्रेष्ठता [illegible] करके ही आप्तवचनों और शास्त्र प्रमाणों की [illegible] सिद्ध हो सकती है। अनुसन्धान दार्शनिक पक्ष का [illegible] है। जिसके फलस्वरूप परिष्कृत स्वरूप का ऐसा चित्र [illegible] जाता है जिसके समर्थन के लिए [illegible] सिद्ध हो सके।

इस प्रयोजन के लिए [illegible]

साहित्य उपलब्ध किया जा रहा है । इस तरह की प्रक्रिया भी अपनाई गई है जिससे सारे देश के विशिष्ट विचारशील व्यक्तियों के स्वाध्याय और चिन्तन का लाभ भी इस दार्शनिक शोध को उपलब्ध हो सके । इस तरह अध्यात्म का अतिविस्तृत, परिमार्जित और प्रामाणिक स्वरूप प्रस्तुत करना सम्भव हो गया है ।

ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान की एक पक्ष प्रयोगशाला है । साधना के विभिन्न पक्षों के माध्यम से हृदय की गति तथा लय में भिन्न-भिन्न समय में होने वाले परिवर्तनों को अङ्कित करने के लिये "टेलीमेट्री" "पेसमेकर" "आटोक्लावर" रक्त शुद्धि को मापने के लिये "ब्लड गैस एनालाइजर" फेफड़ों की शक्ति को जाँचने के लिये "वाइटलो ग्राफ" इसी तरह साधना के द्वारा शरीर मन की विविध प्रतिक्रियाओं के अध्ययन के लिये अनेकों ऑसिलोस्कोप, माइक्रोस्कोप, आपटोमीटर, स्पेक्ट्रोफोटोमीटर, विद्यु-त [illegible] आदि यन्त्र सुसज्जित किये गये हैं । साधना विज्ञान को प्रत्यक्ष कसौटी पर उतारने के इस असाधारण कदम को धर्म चेतना के इतिहास का उल्लेखनीय कदम माना जा रहा है ।

प्रयोग-सार इस शोध की परम विशिष्टता है । जब कि इस समय वैज्ञानिक [illegible] की शोध [illegible] द्वारा प्रमाणित [illegible] [illegible] धर्म और संस्कृति के [illegible] की [illegible] दी गई । विविध [illegible] [illegible] मन और अन्तः- [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रस्तुत किया जा रहा है । जिससे [illegible] [illegible] [illegible] विशिष्ट [illegible] और [illegible] सिद्ध हो सके ।